

चन्द्रकांती सारस्वत

॥ श्रीहरिः ॥

ब्रह्मसूत्रस्थ-

चतुःसूत्री

श्रीशंकराचार्यविरचित

शाङ्करभाष्य-सहित

और

ऋषिकुमार प० रामस्वरूपशर्मा द्वारा

विरचित

भाषानुवादसहित

मुद्रक और प्रकाशक

ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्मा

सनातनधर्म प्रेस

मुरादाबाद.

सन् १९३१

❁ श्रीः ❁

❁ निवेदन ❁

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

प्रिय पाठको !

संसारमें आकर जीव और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान पाना ही परम कर्त्तव्य है, क्योंकि–आहार निद्रा और मैथुन यह तो अन्य सब प्राणियोंमें और मनुष्यमें भी एक समान हैं और अन्य योनियों की अपेक्षा मनुष्य योनिमें ज्ञानप्राप्ति की योग्यता ही विशिष्ट है। अतः जो पुरुष मनुष्ययोनि पाकर ज्ञानप्राप्तिके अधिकारकी ओर उपेक्षा करता हुआ काम क्रोध लोभ आदिमें मग्न रहता है उसको बारम्बार चौरासी लक्ष योनियोंके चक्रमें घूमना पड़ता है। इसी उद्देश्यको लक्ष्यमें रख कर प्रति वर्ष सनातनधर्मपताकाके उपहारमें बहुतसी अलभ्य पुस्तकें दी जाती हैं। इस वर्षकी यह "चतुःसूत्री" ज्ञानप्राप्तिकी अद्भुत पुस्तक है। भगवान् वेदव्यास जीके ब्रह्मसूत्र परम प्रसिद्ध हैं। उन पर भगवान् शंकराचार्यका आत्मस्वरूपका बोध कराने वाला भाष्य कितना कठिन है यह भी पण्डितोंसे छिपा नहीं है। उसी गुप्तनिधिको प्रकाशित करनेके लिये सनातनधर्मपताकाके सम्पादक स्वर्गीय ऋ०कु०प०रामस्वरूपशर्मा जीने इस शाङ्करभाष्यका परम सरल हिन्दी अनुवाद किया है। ब्रह्मसूत्रोंमें आरम्भके चार सूत्र परम गूढ़ हैं अतः पहिले चार सूत्रों की व्याख्या ही आपको आनन्द देनेके लिये "चतुःसूत्री" के रूपमें आपके सामने प्रस्तुत की जाती है। यदि आपने इसको उपयोगी समझा तो शेष सम्पूर्ण सूत्रोंका भाष्य और भाषानुवाद भी आपके सामने प्रस्तुत करनेका साहस किया जावेगा।

निवेदक–
ऋ० कु० रामचन्द्र शर्मा.



❀ ॐ तत्सद् ब्रह्मणे नमः ❀

चतुःसूत्री-

❀ ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्यम् ❀

भाषानुवादसहितम्

श्रीभगवान् शङ्कराचार्य अपनी शिष्यमण्डलीके साथ बैठे हुए थे। उस समय उन शिष्योंमेंसे सुरेश्वराचार्यने कहा, कि—हे भगवन्! जड़का चैतन्यके साथ भेद, चैतन्यका जड़के साथ भेद तथा चैतन्यका चैतन्यके साथ भेद, ये भेद किस प्रकार हैं? इन भेदोंके कारण मेरा मन मूढ़सा बन रहा है, इस लिये आप मेरी इस शङ्काको दूर करदीजिये? श्रीशङ्कर भगवान्ने उत्तर दिया, कि—हे शिष्य!

(भाष्य)-युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः। तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणाञ्च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्।

(अनुवाद)—युष्मद् अर्थात् "त्वम् वा इदम्—तू या यह†"

† जिसको "इदम्" वा "यह" कहा जाता है, सम्बोधन

असमद् अर्थात् "अहम्-मैं" "इदम्-यह" इस प्रतीति (ज्ञान) के गोचर देह इन्द्रिय मन बुद्धि अहङ्कार आदि अनेकों पदार्थ हैं जिनको यह कहकर बता सकते हैं वे विषय‡ कहलाते हैं और "मैं" इस ज्ञानका गोचर चित्स्वभाव एक आत्मा है, वह विषयी कहलाता है, क्योंकि-देह इन्द्रिय आदि विषय उसके हैं। जैसे अन्धकार और प्रकाशका स्वभाव आपसमें विरुद्ध है, ऐसे ही अहं प्रत्ययगम्य चित्स्वभाव आत्मा और इदंप्रत्ययगम्य जड़स्वभाव अनात्मा (विषय) ये भी आपस में विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, इस कारण इन दोनोंका इतरेतर-भाव नहीं होसकता अर्थात् अन्योन्याभाव है, जैसे जो प्रकाश है वह अन्धकार नहीं है और जो अन्धकार है वह प्रकाश

के समय उसको "तू" कहते हैं और जिसको "तू" कहते हैं बतानेके समय उसको "यह" कह सकते हैं, परन्तु उसको "अहम्" वा "मैं" नहीं कह सकते इस लिये आत्मासे भिन्न सब ही पदार्थ "इदम्" शब्द वा "इदं" ज्ञानके गोचर हैं, केवल एक आत्मा ही "अहम्" शब्द वा "अहम्" ज्ञानका गोचर है।

‡"विषिन्वन्ति चिदात्मानं अवबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति इति विषयाः" अर्थात्-जो चिदात्माको अनेकों प्रकारसे बन्धनमें डालें अर्थात् निरूपणके योग्य करदें वे विषय कहलाते हैं। हर एक बाहरी वस्तु और देह आदि ये चैतन्य पदार्थको बन्धनमें डालते हैं अर्थात् अपने २ स्वरूपके अनुरूप निरूपणके योग्य कर लेते हैं, इस लिये वे विषय हैं।

नहीं है, ऐसे ही जो आत्मा है वह अनात्मा नहीं है और जो अनात्मा है वह आत्मा नहीं है अर्थात् दोनोंको एकरूप नहीं कहा जासकता। जब यह बात युक्तिके द्वारा सिद्ध है अर्थात् जड़स्वभाव विषय और चैतन्य स्वभाव विषयीकी एकता नहीं होसकती तो इन दोनोंके धर्मोंका भी इतरेतरभाव (एकरूपता) अत्यन्त अयुक्त है, यह बात सिद्ध ही है। इस युक्तिसे [यद्यपि] अहं ज्ञानज्ञेय–"मैं" इस ज्ञानके योग्य विषयी चैतन्य आत्मामें इदं ज्ञानज्ञेय "इदम्–यह" वा "त्वम् तू" इस ज्ञानके योग्य अनात्मा–जड़–देहादिका अध्यास (तादात्म्यभ्रम) तथा चतन्य आत्माके धर्मोंमें अनात्मा—देहादि–जड़ पदार्थोंके धर्मोंका अध्यास और इसके विपरीत क्रममें अर्थात् इसको उलट कर कहें तो देह आदि अनात्म-जड़–विषयोंमें विषयी-चतन्य आत्माका और उसके धर्मोंका अध्यास (तादात्म्यभ्रम) मिथ्या होनेके योग्य है।

(भाष्य)–तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृतेमिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

(अनुवाद)–ऊपरोक्त अध्यास० मिथ्या होनेके योग्य है, तो भी देह इन्द्रियादि जड़पदार्थ और उनके धर्म जो चेतन आत्मा और उसके धर्मोंसे अत्यन्त भिन्न हैं, उनके परस्पर भेदको न समझ कर, एकमें दूसरेके स्वरूपका तथा एकके धर्मोंमें दूसरेके धर्मोंका अध्यास करके अर्थात् सत्य (आत्मा)

और अनृत (अनात्मा) को एक करके यह शरीर आदि मैं हूँ और ये जरा मरण आदि मेरे होते हैं, ऐसा अज्ञानके कारणसे अनादि व्यवहार चला आता है।

(भाष्य)—आह—कोऽयमध्यासो नामेति ? उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाऽग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति। सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

(अनुवाद)—इस पर शिष्यने कहा, कि—हे भगवन्! जिसको अध्यास नामसे बोलते हैं, वह क्या पदार्थ है ? इसके उत्तरमें गुरु कहते हैं, कि—पहले देखे हुए पदार्थका स्मृतिरूपसे अन्य पदार्थमें जो अवभास—भासना है वही अध्यास है। (यह अवभास—भ्रम—मिथ्याज्ञान किस कारणसे वा किस रूपका होता है, इस तत्त्वका निर्णय करते हुए भिन्न २ पण्डित भिन्न २ बातें कह गये हैं उनमेंसे) कितनों हीका कहना है, कि—एक पदार्थमें अन्य पदार्थके धर्मका प्रतीत होना ही अध्यास कहलाता है। कोई कहते हैं, कि—जिसमें जिसका अध्यास होता है उसके साथ उसके भेदको न समझनेके कारण ऐसा भ्रम—मिथ्या ज्ञान होजाता है अर्थात् भेदको न समझनेसे एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका जो भ्रम होजाता है वही अध्यास है। कितने ही यह कहते हैं, कि—जिसमें जिसका अध्यास

५
५८७

होता है, उसमें उसके विपरीत धर्मकी कल्पना करनेका नाम अध्यास है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको उससे उलटी कल्पना कर लेना ही अध्यास है। (इस प्रकार चाहे कोई अध्यासका कुछ भी लक्षण करे, परन्तु) सब ही लक्षणोंमें "एक पदार्थमें अन्य पदार्थका वा अन्य पदार्थके धर्मका भासना" यह अभिप्राय बना ही रहता है, इसमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। (शिष्यने कहा, कि–हे भगवन् ! आपने अध्यासका लक्षण तो बताया, परन्तु अभी तक मेरी समझ में नहीं आया, इस लिये जैसे गौका स्वरूप समझातेमें सींग पकड़ कर कह देते हैं, कि इसका नाम गौ है, ऐसे ही इस बातको भी कोई दृष्टान्त देकर समझाइये ? इस पर गुरुने कहा, कि–हे शिष्य !) लौकिक व्यवहारमें भी ऐसा ही अनुभव होता है। लोग कहते हैं, कि–सीपी रजत–चाँदी की समान भासती है तथा चन्द्रमा एक है परन्तु (आँखके दोषके कारण) चन्द्रमा दो सा प्रतीत होता था ‡ ।

(टिप्पणी) ‡ "चन्द्रमा दोसा प्रतीत होता था" यह बोध भ्रम दूर होने पर होता है। भ्रमके समयमें "दोसा" यह बोध नहीं होता है, किन्तु मानो ठीक है, ऐसा प्रतीत होता है। इस लिये भ्रमज्ञानके पूर्वापरका अनुसन्धान करने पर यही प्रतीत होगा, कि-भ्रमका आधार सत्य है, परन्तु उसमें जो प्रतीत होता है वह मिथ्या है। मिथ्या है, परन्तु वन्ध्याके पुत्रकी समान मिथ्या नहीं है। आन्तरिक (सर्वथा) मिथ्या होता तो वह प्रतीत ही नहीं होता, इस लिये ऐसा आरोपितत्त्व निःसन्देह अनिर्वचनीय है अर्थात् उसको न

(भाष्य)—कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि उच्यते–न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनतामध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

(अनुवाद)—[कथं ... ब्रवीषि] शिष्यने कहा, कि–

सत्य ही कह सकते हैं और न मिथ्या ही कहसकते हैं। अध्यस्त वस्तु रहती नहीं, इस लिये मिथ्या (तुच्छ) है, परन्तु प्रतीत होती है, इस लिये वह पूर्ण मिथ्या नहीं है, उस का ठीक रूप कहा ही नहीं जासकता, इस लिये "अमुककी समान" वा "अमुकसी" इत्यादि उपमाके द्वारा उसको ज्यों त्यों करके समझाना पड़ता है। वास्तवमें वह अनिर्वचनीय है, उसका निर्वचन हो ही नहीं सकता।

हे भगवन् ! व्यापक आत्मा तो अविषय है—वह किसीका विषय नहीं है अर्थात् वह पराधीनप्रकाश नहीं है, ऐसे आत्मा में विषयका (देह आदिका) और उसके (जरा मरण आदि) धर्मोंका अध्यास कैसे होसकता है ? सब मनुष्योंको अपने सामने आये हुए (इन्द्रियके सामने आकर प्रत्यक्ष हुए पदार्थमें ही अन्य किसी (देखे हुए) पदार्थका भास होता है, उसका ही नाम अध्यास है। (परन्तु न देखे हुए किसी भी अविषय पदार्थमें किसीको भी किसी अन्य पदार्थ का भास होता नहीं देखते हैं सीपी आदि विषय हैं अर्थात् पराधीन प्रकाश हैं इस लिये उनमें रजत आदि विषयोंका अध्यास—भास हुआ करता है परन्तु) आप कह चुके हैं, कि-प्रत्यक् आत्मा अस्मत्प्रतीतिके पार है अर्थात् 'तू' इस जड़रूप ज्ञानका विषय नहीं है, किन्तु अविषय है। फिर उस आत्मामें अध्यास कैसे होसकता है ? गुरुदेवने कहा, कि—हे शिष्य ! तू सत्य कहता है, कि—आत्मा अविषय है, अविषय होने पर भी जिस प्रकार उसमें विषयका और विषयके धर्मोंका आरोप वा अध्यास—भ्रम होसकता है, "उच्यते" उसको बताते हैं। [न'''अनात्माध्यासः] यह आत्मा सर्वथा ही अविषय है—किसी प्रकार विषय (ज्ञान-गोचर) होता ही नहीं ऐसा नहीं है, (जीवावस्थामें) उसमें अस्मत्प्रत्ययकी विषयता है अर्थात् जीव 'मैं' इस ज्ञानका विषय है और अन्तरात्मारूपसे प्रसिद्ध वा प्रतीत होनेके कारण अपरोक्षता है अर्थात् उसका साक्षात्कार वा प्रत्यक्ष भी होता है। जब आत्मा (जीवदशामें) 'अहम्—मैं' इस

ज्ञानका विषय है तो फिर उसको सर्वथा अविषय नहीं कहा जासकता और परोक्ष (अप्रत्यक्ष) भी नहीं कहा जासकता (तात्पर्य यह है, कि—चैतन्यमात्रस्वभाव आत्मा वास्तवमें निरुपाधिक और अविषय है, तथापि अविद्याजनित 'अहम्' इस उपाधिके द्वारा विषयत्वको प्राप्त होजाता है अर्थात् अहंज्ञानका गोचर वा विषय होजाता है। विवेकके समय वा अध्यास न होनेके समय वह निरुपाधिक और निरवयव है. परन्तु अविवेकके समय वह सोपाधिक और सावयव है। जब तक अविद्या कल्पित अहं रहेगा तबतक ही वह अहंवृत्तिका परिच्छेद्य वा विषय है, इसलिये जब तक अविद्याकल्पित अहं-उपाधिका विलोप या विगम नहीं होता तब तक वह सर्वथा अविषय नहीं है, किन्तु उस समय आत्मा अहंवृत्तिका विषय है। इस प्रकार जो अहंवृत्तिका विषय है, उसमें देह आदिका और देह आदिके धर्मोंका अध्यास होना अनुचित वा युक्तिविरुद्ध नहीं है। "जो अविषय है अर्थात् जो ज्ञेय नहीं है उसमें विषयका अध्यास वा भ्रान्ति हो ही कैसे सकती है ?" इस पहले प्रश्नका उत्तर होगया। "अप्रत्यक्ष पदार्थमें प्रत्यक्ष वस्तुका अध्यास नहीं होता" इस दूसरी शंकाका उत्तर देनेके लिये कहते हैं, कि—आत्मा अप्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु पूर्ण प्रत्यक्ष है, क्योंकि-जीवमात्र आत्माका वा अपना "अहमस्मि—मैं हूँ" ऐसा साक्षात्कार करता है) और ऐसा भी कोई नियम नहीं है, कि-जो चक्षु आदि इन्द्रियके समीप होकर प्रतीत हो वही प्रत्यक्ष है वही और ऐसे प्रत्यक्षमें ही विषयान्तरका अध्यास—भ्रम होगा, अन्यत्र होगा ही नहीं

देखो-आकाश वैसा प्रत्यक्ष नहीं है, तथापि उसमें दूसरे विषय का अध्यास देखते हैं, बालक अर्थात् अज्ञानी मनुष्य अप्रत्यक्ष आकाशमें तलमलिनता आदिका † अध्यास वा आरोप करते हैं, इस लिये आत्माके साक्षात् न दीखने पर भी-इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी उसमें (प्रत्यक् आत्मा जीवमें) अनात्मा अर्थात् बुद्धि आदिका और बुद्धि आदिके धर्मका अध्यास होनेमें कोई बाधा नहीं है। [तं...विद्यामाहुः] ऐसे अध्यास-आरोप-मिथ्याज्ञानको तत्त्वज्ञानी पण्डित "अविद्या" नाम से कहते हैं और विवेकरूप साधनसे वा विचारजनित प्रज्ञाके द्वारा उसके वास्तविक स्वरूपका निश्चय करलेनेको "विद्या" नामसे कहते हैं (यह अविद्या अनेकों अनर्थोंकी मूल है और इसका नाश करनेके लिये ही वेदान्तशास्त्रकी प्रवृत्ति है) [तत्र...सम्बध्यते] अध्यासके विषयमें पण्डितोंका ऐसा विचार है, इससे यह सिद्ध होता है, कि—जिसमें जिसका

(टिप्पणी) † तल कटाहतल मलिनता नीलकान्ति। जब मेघ नहीं होता तब आकाशको कटाहतलाकार—कड़ाओं के घेरेकी समान और निविड़ नीलवर्ण देखते हैं मानो, एक नीलकान्त मणिका कड़ाओ उलटा पड़ा है। वास्तवमें आकाश का कोई रंग नहीं है और न वह चक्षुर्ग्राह्य ही है, इस लिये ऐसा भास होना अध्यासमूलक-भ्रम है। अज्ञानी मनुष्य अविवेकके कारणसे पृथिवीकी छायाको और पृथिवीकी गोलताको आकाशमें आरोपित करके ऐसे भ्रमका अनुभव करते हैं। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि-पृथिवी गोल होना भी इस भ्रमकी प्रतीतिसे ही सिद्ध होता है।

अध्यास होता है अर्थात् एक वस्तुमें जो अन्य वस्तुका आरोप होता है, वह उसके दोषसे वा गुणसे अणुमात्र भी लिप्त नहीं होती है (रज्जुमें सर्पका अध्यास-भ्रम होता है, परन्तु उसमें सर्पका सम्बन्ध नहीं होता, सर्पके दोष गुणका स्पर्श भी नहीं होता, सर्पमें भी रज्जुके दोष गुण नहीं पहुँच जाते, इस प्रकार ही आत्मामें अनात्माका और अनात्मामें आत्माका अध्यास होने पर भी किसीके साथ किसीका सम्बन्ध वा लिप्तता नहीं होती) [तं...पराणि] इस अविद्या नामक आत्मा अनात्माके परस्पर अध्यासको लेकर ही अर्थात् जड़ चेतनका परस्पर एक दूसरेमें भ्रम होनेसे ही प्रमाण-व्यवहार, प्रमेयव्यवहार, अहं मम आदि ज्ञानव्यवहार, क्या लौकिक क्या वैदिक सब ही व्यवहार चलरहे हैं । सकल विधि, निषेधोंका वर्णन करने वाले तथा मोक्ष देने वाले शास्त्र भी इस अविद्याके कारणसे ही रचे गये हैं और अविद्याका ही वर्णन करते हैं (अविद्या अर्थात् आत्मा अनात्मा के अध्यासके विना कुछ भी नहीं होसकता, आत्मा और अनात्माका परस्पर अध्यास होनेसे ही यह सकल विश्व-संसार और इसके भीतरके प्रवृत्ति निवृत्ति आदि लौकिक वैदिक व्यवहार होते चले आरहे हैं) ।

(भाष्य)—कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति । उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति । न चाधिष्ठानमन्तरेण प्रत्यक्षा-

दिव्यवहारः संभवति न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते । न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति अ-सङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्व-मन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषया-ण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।

(अनुवाद)-[कथं…चेति] शिष्यने कहा, कि-हे भग-वन् ! प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और वेदादि शास्त्र अविद्यावद्वि-षय क्यों हैं ? अर्थात् अज्ञानी जीवके अधिकारभुक्त क्यों हैं ? अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और वेद आदि शास्त्र ये सब यदि अविद्याग्रस्त जीवका ही विषय हैं तो ये सब प्रमाणरूप कैसे माने जासकते हैं ? [उच्यते] कहते हैं अर्थात् गुरुने कहा, कि-हे शिष्य ! इस प्रश्नका उत्तर देता हूँ, सुन— [देह…शास्त्राणि चेति] विचार कर देख-देहके ऊपर, इन्द्रियादिके ऊपर जब तक "अहं-मम" आदि ज्ञान न होगा अर्थात् देह इन्द्रियादि विषयोंमें अभिमानशून्य होने पर प्रमा-तापन नहीं होसकता अथवा कर्त्तापन आदि जीवभाव नहीं रह सकता । प्रमातापन वा जीवभावके विना (देह इन्द्रिय आदिके ऊपर "अहं मम-मैं और मेरा" ऐसा ज्ञान हुए विना) प्रमाण आदिकी (चक्षु आदिकी) प्रवृत्ति नहीं होसकती । इन्द्रियोंको लिये विना प्रत्यक्ष आदि लौकिक व्यवहार नहीं होसकता । इन्द्रियें भी विना आश्रयके अपना २ व्यवहार नहीं कर सकतीं (जिसने इन्द्रियोंको छोड़ दिया, अहं मम आदि ज्ञानसे शून्य होगया वह किस प्रकार देखेगा ? या सुनेगा ? और शरीरको भूल जाने पर इन्द्रियें भी कहाँ रह

कर और किस प्रकार अपना २ व्यवहार करेंगी ?)। जिस देहमें अहं मम आदिका अध्यास नहीं है अर्थात् जिस देहमें अहं मम आदिका ज्ञान निवृत्त होगया है उस देहसे कोई जीव किसी व्यवहारका साधन नहीं कर सकता, ऐसा देह निश्चेष्ट वा व्यवहारशून्य रहता है †। यह सब (अध्यस्त-भाव) न होने पर असङ्गस्वभाव परमात्माका प्रमातापन (कर्त्तापन भोक्तापन आदि) नहीं होसकता और कर्त्तापन आदिके विना प्रमाण आदिकी प्रवृत्ति नहीं होती। इससे यह अवश्य ही सिद्ध होता है, कि-प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और वेद आदि शास्त्र, सब ही अविद्याका आश्रय लेने वाले जीव के विषय हैं अथवा सब ही जीवभावके अन्तर्गत हैं (वास्तव में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, वेदादि शास्त्र, और उनके अनुकूल व्यवहार ये सब ही अविद्यामूलक हैं, अविद्यामूलक होनेसे ही उनका व्यावहारिक प्रमाणत्व वा व्यावहारिक सत्यताके सिवाय तत्त्वतः प्रमाणत्व वा परमार्थसत्यता नहीं है। अध्यास

(टिप्पणी)-† सुषुप्ति मूर्छा आदिके समय शरीर आदि में अहं ममज्ञान वा अभिमान नहीं होता है, इस कारण उस समय प्रमातापन वा जीवभाव लुप्त होता है, इन्द्रियें भी उस समय चेष्टाशून्य वा व्यापारहीन होती हैं, यह देख कर निश्चय होता है, कि-असंग चेतन परमात्मा अहंवृत्तिके द्वारा जीव भावको प्राप्त होगया है और इन्द्रियादिमें अध्यस्त होकर उन के आश्रित सकल अंगोंको चलाता है, इस लिये शास्त्रीय और अशास्त्रीय दोनों ही प्रकारका व्यवहार अध्यासमूलक और जीवके आश्रित है।

मूलक व्यवहार अध्यासकी निवृत्ति न होने पर्यन्त ही रहता है, इस लिये उसका प्रामाण्य भी उतने समय पर्यन्त ही रहता है, ऐसा माना गया है। केवल अज्ञानी मनुष्योंकी ही प्रत्यक्षादि व्यवहारमें प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु जिनका अध्यास निवृत्त होगया है ऐसे ज्ञानी भी व्यवहारकालमें ऐसे अध्यस्तभावको ग्रहण करके ही व्यवहार करते हैं)।

(भाष्य)—पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथाहि—पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्त्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्त्तन्ते। यथा—दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखी भवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्त्तन्ते; तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्त्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

(अनुवाद)—[पश्वा···अविशेषात्] व्यवहारके विषयमें वा व्यवहारके समयमें ज्ञानी मनुष्य भी पशुओंके साथ समान हैं, इस विषयमें उनकी कुछ भी विशेषता वा भेद नहीं है, अर्थात् जैसे पशु अध्यासमूलक व्यवहार करते हैं वैसे ही ज्ञानी भी अध्यासपूर्वक व्यवहार करते हैं, अध्यासके विना

किसीका भी कोई व्यवहार नहीं चल सकता [यथा ... वर्त्तन्ते] शब्द आदिके साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका सम्बन्ध होने पर शब्द आदिको जान सकते हैं और उसको जानकर वे जैसे प्रतिकूल जानने पर उससे हट जाते हैं और अनुकूल जान लेने पर उसकी ओरको प्रवृत्त होजाते हैं [यथा ... व्यवहारः] जैसे कि-हाथमें दण्डा ऊपरको उठाने वाले मनुष्य को अपने सामनेको आता हुआ देखकर "यह मुझे मारना चाहता है" ऐसा विचार कर भागना आरम्भ कर देते हैं, परन्तु उस ही मनुष्यको हाथमें हरी २ घास लिये हुए आता देखते हैं तो उसकी ओरको मुख उठाकर आजाते हैं। इस प्रकार ही ज्ञानी मनुष्य भी अपने सामने क्रोधसे लाल २ नेत्र किये हाथमें तलवार लिये आते हुए बलवान् पुरुषोंको देखकर उधरसे भाग जाते हैं और इसके विपरीत मीठा बोलने वाले मनुष्योंके पास जा बैठते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि-मनुष्योंका प्रमाण-प्रमेयव्यवहार और उसके अनुसार प्रवृत्ति निवृत्ति सब पशुओंकी समान है, कुछ भी भेद नहीं है। [पश्वा ... निश्चीयते] पशुओंका प्रत्यक्ष आदि व्यवहार विवेकसेरहित अज्ञानपूर्वक वा अविद्यामूलक होता है, इस बातको सब ही जानते हैं ‡ पशुओंका सामान्य व्यवहार इस प्रकार देखनेमें आता है, इस लिये ज्ञानी पुरुषोंके

(टिप्पणी) ‡ पशुओंको सामान्यतः अपने पराये का ज्ञान होता है, परन्तु उनको उस विषयका विवेकज्ञान नहीं होता। विवेकज्ञान उपदेशसे हुआ करता है, उपदेश न होने के कारण उनको विवेकज्ञान नहीं होता।

प्रत्यक्ष आदि व्यवहार भी पशुओंके व्यवहारके समान होता है। जैसे पशु व्यवहारकार्यका निर्वाह करते हैं, तैसे ही ज्ञानी भी व्यवहारकार्यका साधन करते हैं, यह देख कर निश्चय होता है, कि-ज्ञानी पुरुषोंका व्यवहार भी अध्यासमूलक है और व्यवहारके समय निश्चय उनको अध्यास होता है †

(भाष्य)-शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधि क्रियते तथापि न ;वेदान्तवेद्यमशनायात्तीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्त्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्त्तते। तथाहि—ब्राह्मणो यजेतेत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्त्तन्ते

† जब २ अध्यास होता है, तब २ ही व्यवहार होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध सिद्धान्त है। सुषुप्तिकालमें देह आदिमें आत्मा का अध्यास (अहंज्ञान) नहीं होता, इस लिये उस समय प्रत्यक्षादि व्यवहार भी नहीं होता। जाग्रत्कालमें अध्यास होता है, इस लिये उस समय प्रत्यक्षादि व्यवहार भी होता है। जिस समय ज्ञानी समाधिस्थ होते हैं उस समय उनको अध्यास नहीं होता अर्थात् उस समय वे देह आदिसे विविक्त होते हैं, इस लिये उस समय उनका प्रत्यक्षादिव्यवहार लुप्त हो जाता है।

(अनुवाद)-[शास्त्री···विरोधाच्च] यद्यपि शास्त्रीय व्यवहार (यज्ञ आदि कार्य में बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाला ही (ज्ञानी मनुष्य ही) अधिकारी है, क्योंकि—अपने वा आत्माके पारलौकिक संबन्धको जाने बिना यज्ञादि व्यवहारमें प्रवृत्ति ही नहीं होसकती, तथापि ऐसे व्यवहारमें आध्यासिक ज्ञानके सिवाय तत्त्वज्ञानकी अर्थात् वेदान्तके द्वारा जानने योग्य, भूख प्यास आदि धर्मोंसे रहित, ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व आदि जातिगतभेदसे शून्य, अखण्ड, एकरस आत्मतत्त्वविज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। (प्रयोजन नहीं होता) क्योंकि—ऐसा आत्मतत्त्वज्ञान इस अधिकारके (शास्त्रमें क यज्ञादिकार्यके सर्वथा अनुपयुक्त (काममें न आनेवाला) और विरोधी है। [प्राक्···वर्त्तते] क्योंकि—जब तक पूर्वोक्त आत्मतत्त्वज्ञान नहीं होता, उससे पहले ही सब शास्त्रोंकी प्रवृत्ति होती है (आत्मतत्त्वज्ञान होनेसे पहले २ शास्त्रकी आज्ञानुसार आचरण किया जाता है, आत्मज्ञान होजाने प उसकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती) यह देखकर निश्च होता है, कि—शास्त्र अविद्यावद्विषयताको पार नहीं क सकता अर्थात् अध्यासके अधिकारसे नहीं छूटसकता, (सं में सिद्धांत यह है, कि शास्त्र और सकल शास्त्रीय व्यवहा आविद्यक—अध्यासमूलक—अज्ञानकल्पित है) । [तथाहि प्रवर्त्तते] इसका दृष्टान्त दिखाते हैं, कि- ब्राह्मण यज्ञ क इत्यादि विधिमुख शास्त्रीय वचन जिस व्यक्तिमें ब्राह्मण आदि वर्ण, गार्हस्थ्य आदि आश्रम, अष्टवर्ष आदि अ और पवित्रता आदि अवस्था इत्यादिका अध्यास होता

उसका आश्रय लेकर ही प्रवृत्त अपनी शक्ति दिखानेमें समर्थ वा सफल होते हैं नहीं तो निष्फल होकर विलीन होजाते हैं †

(भाष्य)–अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलो सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि,गच्छामि,लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्–मूकः, काणः, क्लीवः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथान्तःकरणधर्मान् कामसङ्कल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तञ्च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तः करणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व प्रवर्त्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।

(अनुवाद)–[अध्या…चाम] जो वस्तु जिस रूपवाली नहीं है अथवा जिस में जिस वस्तुका अस्तित्व नहीं है, उस में उस वस्तुको मान लेने वाली बुद्धिका नाम अध्यास है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। (तात्पर्य यह है, कि–चैतन्यमात्रस्वभाव निर्विशेष आत्मामें अनात्मा बुद्धि आदिका ज्ञान और बुद्धि आदि अनात्म पदार्थमें अहं मम आदि ज्ञान,–

(टिप्पणी ;–† जो अपनेको ब्राह्मण नहीं जानता, उस को "ब्राह्मण यज्ञ करे" ऐसे सैंकड़ों सहस्रों शास्त्रके शासन वा विधिवाक्य यज्ञकी दीक्षामें प्रवृत्त नहीं कर सकते, इस लिये उसके विषयमें ऐसे विधिवाक्य निष्फल होंगे।

इस प्रकार परस्पराध्यासके विना कोई भी शास्त्र वा कोई
भी व्यवहार नहीं चल सकता) [तद्‌···सायादीन्] जैसे
कि–पुत्र स्त्री आदिके क्लेश पाने पर अथवा उनको पूरा
सुख होने पर (अज्ञानी जीव) मैं क्लेश पारहा हूँ अथवा मैं
परम सुखी हूँ, ऐसा मानता है–बाहरी पुत्र स्त्री आदिके क्लेश
और सुखका अपनेमें आरोपण वा अध्यस्त करके ही ऐसा
अनुभव करता है तथा स्थूलता दुर्बलता आदि देहके धर्मोंको
आत्मामें (अपनेमें) आरोपित करके, मैं स्थूल हूँ, मैं दुर्बल
हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं यहाँसे जाता हूँ और मैं लाँघता
हूँ, इत्यादि प्रकारसे ज्ञान और व्यवहारका निर्वाह करता है
तथा गूँगापन काणापन आदि इन्द्रियोंके धर्मोंको आत्मा
आरोपित करके मैं गूँगा हूँ–बोल नहीं सकता, मैं क्लीव हूँ
स्त्रीसमागम नहीं कर सकता, मैं बहरा हूँ–सुन नहीं पाता
मैं अन्धा हूँ–देख नहीं सकता, ऐसी भावना करता है। राग
द्वेष, संकल्प, विकल्प आदि मनके धर्मोंको भी आत्मा
ऊपर आरोपित करके मैं इच्छा करता हूँ, मैं सङ्कल्प करता
हूँ, मैं विवेचना करता हूँ, मैं सन्देह करता हूँ, मैं निश्चय
करता हूँ, ऐसे २ अनेकों ज्ञानव्यवहार करता है। [एव···
स्यति] इस प्रकार सब लोग अहंप्रत्ययी अर्थात् अहंज्ञानके
आधार वा उत्पत्तिस्थान अन्तःकरणको, अशेषस्वप्रचार
साक्षी अर्थात् अंतःकरणकी सकल वृत्तियोंके साक्षीरूप (अंतः
करणके प्रकाशक) चैतन्य नामक प्रत्यक् आत्मा (जीवा
त्मा) में आरोपित (अध्यस्त) करता है और उस (साक्षि
रूप प्रत्यक् आत्माको उसके विपरीतभावसे अन्तःकरणआ

में अध्यस्त वा तद्रूपताको प्राप्त करता है। [एवं ··· प्रत्यक्षः] इस प्रकार यह अध्यास आदि और अन्तसे रहित नैसर्गिक (स्वयं प्रवर्त्तमान और मिथ्या ज्ञानरूप है, कर्त्तापन भोक्ता-पनका प्रवर्त्तक है और सब लोकोंको प्रत्यक्ष है अर्थात् सब के अनुभवमें आरहा है।

(भाष्य)-अस्यानर्थहेतोः प्रहाणायात्मैकत्वविद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते । यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः। वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्–

(अनुवाद)-[अस्य ··· ष्यामः] सकल अनर्थोंके मूल-रूप इस अध्यास (अविद्या) का नाश करनेके लिये और अविद्याके नाशक एकात्मविज्ञानको अर्थात् आत्मा एक है इस विद्याका ज्ञान होनेके लिये सकल वेदान्तोंका आरम्भ होता है। जिस प्रकार सब वेदान्तोंका यही अर्थ वा तात्पर्य है, उस प्रकार वा रीतिको हम इस शारीरकमीमांसा† में दिखा-वेंगे। [वेदा ··· सूत्रम्] हम जिस वेदान्तमीमांसा शास्त्रकी

(टिप्पणी)—† शरीरमेव शरीरकं कुत्सितत्वात्, तत् निवासो यस्य सः शारीरको जीवः, तस्य त्वम्पदाभिधेयस्य मीमांसा तत्पदाभिधेयपरमात्मरूपताविचार इत्यर्थः। अर्थात् शरीर निन्दित होनेके कारण शरीरक कहलाता है, वह निन्दित शरीर जिसका निवासस्थान हो वह जीव शारीरक कहलाता है, उसकी मीमांसा ब्रह्मतत्त्व विचार अर्थात् जीव ब्रह्मसे ऐसा विचार "शारीरकमीमांसा" कहलाता है।

व्याख्या करना चाहते हैं, उस वेदान्तमीमांसाका पहला सूत्र यह है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

(सूत्रार्थ)—अथ—अनन्तरं—साधनचतुष्टयानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा (कर्त्तव्या) ब्रह्म विचारयितव्यमित्यर्थः। विचारजनितेन ज्ञानेनापगन्तुमिष्टं ब्रह्मेति सूत्रतात्पर्यम्। (अथ) ज्ञानसाधक शम दम आदि सद्गुणोंके प्रकट होनेके अनन्तर (ब्रह्मजिज्ञासा) ब्रह्मविचार [कर्त्तव्या] करना चाहिये अर्थात् विचारजनित निर्मल ज्ञानके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार करे। (शिष्यने प्रश्न किया, कि—हे भगवन्! व्यास भगवान्ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्रमें 'अथ' शब्द किस लिये रक्खा है? जब ब्रह्मकी जिज्ञासा सब ही मनुष्योंको होती है तो फिर यहाँ 'अथ' शब्दके लिखनेका क्या प्रयोजन है? मुझे तो यहाँ 'अथ' शब्द देनेका यह प्रयोजन मालूम होता है, कि—कोई विशेषदशा प्राप्त होजाने पर ही ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार प्राप्त होता है, अतः इस विषयको विस्तारके साथ स्पष्ट करके समझाइये गुरुने उत्तर दिया, कि-)

(भाष्य)—तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्, मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव हि अथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासापूर्ववृत्तं वेदा-

ध्ययनं नियमेनापेक्षत,एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद्वक्तव्यम्।स्वाध्यायानन्तर्यन्तु समानम्

(अनुवाद)-[तत्र''''स्यात्] इस सूत्रमेंके 'अथ' शब्द का 'अनन्तर' अर्थ लिया जाता है। 'अथ' शब्दका अधिकार वा आरम्भ अर्थ होते हुए भी वह अर्थ यहाँ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि-यहाँ ब्रह्म वा तत्त्वज्ञान अधिकार्य आरम्भ करने योग्य नहीं हैं अर्थात् ब्रह्मकी जिज्ञासा का अर्थात् ब्रह्मको जाननेकी इच्छाका आरम्भ नहीं होसकता (क्योंकि-इच्छा आरम्भ करनेकी वस्तु नहीं है)। 'अथ' शब्दका और एक अर्थ है-मङ्गल,वह भी यहाँ पर नहीं घटता क्योंकि-मङ्गल अर्थका "ब्रह्मजिज्ञासा"इस पदके अर्थके साथ अन्वय (सम्बन्ध) नहीं वैठता अर्थात् यह अर्थ अलग ही रहजाता है। (यह ठीक है, कि-मङ्गलके लिये 'अथ' शब्द का प्रयोग वा उच्चारण आवश्यक है, परन्तु) 'अथ' शब्द का किसी दूसरे अर्थमें प्रयोग करने पर भी (शङ्खध्वनि आदिकी समान) उसके श्रवणमात्रसे ही मङ्गलका प्रयोजन सिद्ध होजाता है। [पूर्व...रेकात्] पहले कुछ हो, उसके अनन्तर और कुछ हो, ऐसे स्थलमें भी 'अथ' शब्दका प्रयोग होता है, यह सत्य है, परन्तु ऐसा पूर्वापरीभाव-अर्थ आनन्तर्य अर्थसे अव्यतिरेक है अर्थात् यह अर्थ आनन्तर्य अर्थसे अलग नहीं है, क्योंकि-वह भी आनन्तर्यके भीतर ही गिना जाता है।

(भाष्य)-सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते एवं ब्रह्मजिज्ञासा

अपि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद्वक्तव्यम् । स्वाध्या-यानन्तर्यन्तु समानम् ।

(अनुवाद)–[सति···वक्तव्यम्] (शिष्यने बूझा, कि–हे गुरुदेव !) अथ शब्दका 'अनन्तर' अर्थ निश्चित-ग्राह्य वा सिद्धान्तित होजाने पर अवश्य ही यह प्रश्न उठेगा, कि– "किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये ?" धर्मजिज्ञासा वा धर्मविचार जैसे अपनेसे पहले होने वाले वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखता है अर्थात् जैसे वेदाध्ययन धर्ममीमांसाका नियम से कारण है जैसे वेदको बिना पढ़े धर्मविचार सिद्ध हो ही नहीं सकता । कोई धर्मविचार करनेका अधिकारी हो ही नहीं सकता, ऐसे ही जो ब्रह्मजिज्ञासाका अवश्य कारण हो— ब्रह्मजिज्ञासासे पहले जिसकी अवश्य अपेक्षा हो–जिसके बिना हुए ब्रह्मविचार सिद्ध हो ही न सके–ब्रह्मविचारके विषय में अधिकारी माना ही न जाय, उसको बता देना चाहिये ? [स्वाध्या···समानम्] यदि कहो, कि–वेदाध्ययनके अनं-तर ही ब्रह्मविचार भी होता है, तो यह नहीं कहा जासकता, क्योंकि—वेदाध्ययन भी एक कारण तो अवश्य है, परन्तु वह पूर्ण कारण नहीं है, क्योंकि—वह धर्म और ब्रह्म दोनों का ही समानरूपसे साधारण कारण है, वह ब्रह्मजिज्ञासा का विशेष कारण नहीं है । जो विशेष कारण–नियमित कारण हो, उसको ही बताना चाहिये ?

(भाष्य)–नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः, न । धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासो-पपत्तेः । यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः,

क्रमस्य विवक्षितत्वात् 'न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च, अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलन्तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य च दनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाक्षार्थसन्निकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्। तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते

(अनुवाद)-[नन्विह···पत्तेः] तो क्या इस ब्रह्मजिज्ञासा में कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है ? अर्थात् क्या कर्म (धर्म) ज्ञानके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है, ऐसा मानलें ? (गुरु ने उत्तर दिया, कि हे शिष्य !) नहीं-ऐसा नहीं कहसकते। क्योंकि-जिसने वेदान्तशास्त्र पढ़ा है उसको धर्मजिज्ञासा से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होजाती है [यथा···विवक्षितः] जैसे, कि-यज्ञकर्ममें पहले हृदयके अवदानकी विधि है, तदनन्तर जिह्वाके अवदानकी विधि है, इस प्रकार क्रमका नियम वा क्रमकी विधि देखनेमें आती है, ऐसे ब्रह्मजिज्ञासाके साथ धर्मजिज्ञासाका क्रमसंबन्ध वा क्रमका नियम देखनेमें नहीं आता। पहले धर्मकी जिज्ञासा करे, तदनन्तर

ब्रह्मकी जिज्ञासा करे, नहीं तो ब्रह्मज्ञान सिद्ध नहीं होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। मनुष्य धर्मकी मीमांसाको जाने चाहे न जाने, वैराग्यका उदय होते ही उसको ब्रह्मको जानने की इच्छा होजाती है और उसमें वह सफलमनोरथ भी होता है। [शेष'''भेदाच्च] ब्रह्मज्ञानके साथ धर्मज्ञानका शेष-शेषिभाव (अङ्गाङ्गिभाव वा साध्यसाधकसम्बन्ध) होनेकी संभावना नहीं है और अधिकृताधिकार माननेका प्रमाण भी नहीं है। विशेष कर धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा इन दोनोंके फल और जिज्ञास्य विषय) भिन्न २ हैं (तात्पर्य यह है, कि–जहाँ एक कर्त्ता होता है वहाँ ही शेषशेषिभाव-अंगांगिभाव वा अधिकृताधिकार होता है। शेष अंगको और शेषी अंगीको कहते हैं। जैमिनि कहते हैं, कि–"शेषः परार्थत्वात्" (३। १। १२) इस पर शाबरभाष्यमें कहा है, कि–"यः परस्योपकारे वर्त्तते स शेषः" जो परका उपकार करे अर्थात् जो दूसरेके लिये किया गया हो वह शेष कहलाता है, दूसरेके उद्देश्यसे वर्त्तमान-अंगभूत शेष है और जिसके उद्देशसे कार्य हो वह शेषी वा अंगी है। यज्ञके लिये अवदानकार्य होता है, इस लिये अवदान शेष–अङ्ग है और यज्ञ शेषी–अङ्गी है। जैसे, कि—अग्निहोत्र शेषी-अङ्गी-प्रधान कर्म है और समिधहोम वा आग्नेय अष्टाकपाल होम उसका शेष-अङ्ग है अथवा जैसे सन्ध्या शेषी—अङ्गी-प्रधान कर्म है और आचमन मार्जन प्राणायाम आदि उसके शेष वा अङ्ग हैं। जो समिध होम अष्टाकपाल होम करता है वही अग्निहोत्र करता है जो आचमन मार्जन प्राणायाम करता है वही

सन्ध्या करता है, इस प्रकार जिनमें शेषशेषिभाव—अङ्गाङ्गिभाव होता है उनका कर्त्ता एक होता है और जहाँ अधिकृताधिकार होता है वहाँ भी कर्त्ता एक होता है। अधिकृत अर्थात् अधिकारको प्राप्त हुआ। "दर्शपूर्णमासाभ्यमिष्ट्वा सोमेन यजेत" दर्श अर्थात् अमावास्या और पूर्णमास अर्थात् पूर्णिमाका यज्ञ करके सोमयज्ञ करे। यहाँ दर्शपूर्णमासके विधानके पीछे उत्तर कालमें सोमविधान किया है, इसलिये जो दर्शपूर्णमास यज्ञमें अधिकार पाचुका है वही सोमयज्ञका अधिकारी होता है अर्थात् इन दोनोंका कर्त्ता एक है। इस प्रकार जिनमें शेषशेषिभाव वा अधिकृताधिकार है उनका कर्त्ता एक होता है। एक कर्त्ता होनेसे एक ही समयमें एक प्रयोगवाक्यमें कहे हुए यज्ञ नहीं होसकते, इस लिये वहाँ क्रमकी आकांक्षा है, वह क्रम श्रुति आदिसे जाना जाता है, परन्तु धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें शेषशेषिभाव वा अधिकृताधिकार दिखाने वाला कोई श्रुतिवाक्य या दूसरा प्रमाण नहीं है। शिष्यने कहा, कि-हे गुरो! श्रुति और स्मृतिसे अधिकृताधिकार तो मालूम होता है, क्योंकि-श्रुति कहती है, कि-"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" ब्रह्मचर्यको समाप्त करके गृहस्थ होय और गृहस्थको छोड़ वनमें जाकर संन्यास ग्रहण करे। स्मृति भी कहती है, कि-"अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य यत्नतः। इष्ट्वा च शक्ति तो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्" विधिके अनुसार वेदको पढ़ कर और धर्मके अनुसार पुत्रोंको उत्पन्न करके तथा शक्तिके अनुसार यज्ञोंके द्वारा यजन करके मनको मोक्षमें

लगा देय। इस श्रुति और स्मृतिसे यह प्रतीत होता है, कि—जिसको धर्ममें अधिकार होजाता है उसको ही ब्रह्ममें अधिकार होता है। इस प्रकार धर्मविचार और ब्रह्मविचारमें अधिकृताधिकार है। गुरुने इसका उत्तर देते हुए कहा, कि–हे तात! तूने जैसा समझ लिया ऐसा नहीं है। "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण करलेय। इस श्रुतिवाक्यसे तथा "आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे" जिसका चित्त शुद्ध है वह प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्यमें ही मोक्षका साधन कर लेता है। इस स्मृतिवाक्यसे यह सिद्ध होता है, कि—तूने जो श्रुति और स्मृतिके उदाहरण दिये वे मलिनचित्त वाले मनुष्योंके ऊपर संघटित होते हैं अर्थात् यदि जन्मान्तरमें किये हुए कर्मसे चित्त शुद्ध हो चुका हो तो ब्रह्मचर्यके अनन्तर ही संन्यास लेकर ब्रह्मकी जिज्ञासा करे, परन्तु संसारमें राग होनेके कारण चित्त शुद्ध न हुआ हो तो ब्रह्मचर्यसे गृहस्थमें जाय, उसमें भी चित्त अशुद्ध रहे तो वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करे, तहाँ भी चित्त अशुद्ध रहे तो उस ही आश्रममें समय बिताता रहे और जब चित्त शुद्ध होय, तब ही संन्यस्त होय। श्रुति भी ऐसा ही कहती है "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" जिस दिन वैराग्य प्राप्त होय उस दिन ही संन्यस्त होजाय। इस लिये धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें अधिकृताधिकार संबन्ध माननेका कोई प्रमाण नहीं है। शिष्यने फिर कहा, कि-धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाका शेषशेषिभाव या अधिकृताधिकार संबन्ध नहीं

है तो न सही, परन्तु दोनों मीमांसाओंका मोक्षरूप फल तो एक ही है, इस लिये दोनोंका कर्त्ता एक ही होना चाहिये ? इसके सिवाय समुच्चयवादी कहते हैं, कि- केवल ज्ञान या केवल कर्मसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनोंसे ही मुक्ति होती है और दोनों मीमांसाओंमें जिज्ञास्य कहिये विषय एक वेदार्थ है, इस लिये भी दोनोंका कर्त्ता एक है, इस लिये जैसे एक ही स्वर्गरूप फलको उत्पन्न करने वाले आग्नेय आदि छः यज्ञोंमें क्रम है और धर्मरूप एक ही वस्तु जिनमें जिज्ञास्य है उन धर्ममीमांसाके बारह अध्यायोंमें क्रम है। ऐसे ही धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें भी क्रम विवक्षित है, इस लिये ही यहाँ अथ शब्द क्रमवाचक है। इस पर गुरुदेवने उत्तर दिया, कि–दोनोंके फल और विषय एक नहीं हैं, किन्तु फलमें भी भेद है और जिज्ञासाके विषयमें भी भेद है, इस लिये क्रमकी विवक्षा नहीं है। जैसे सूर्यके, अर्यमनके और प्रजापतिके चरुके फल ब्रह्मतेज, स्वर्ग और आयु इस प्रकार जुदे २ हैं, इस कारण ही उनमें क्रमकी अपेक्षा नहीं है और जैसे कामशास्त्र और चिकित्साशास्त्रमें विषयका भेद है जिज्ञासाके विषयमें भेद है, इस लिये वहाँ क्रमकी अपेक्षा नहीं है, ऐसे ही धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसामें क्रमकी अपेक्षा नहीं है) [अभ्यु···पेक्षम्] धर्मज्ञान जिससे प्राप्त हो ऐसी मीमांसाका फल अभ्युदय अर्थात् विषयके अभिमुख होकर उदय होने वाला (विषयाधीन) पारलौकिक स्वर्गादिसुख है और वह अन्य अनुष्ठानकी अपेक्षा रखता है अर्थात् धर्माचरण करनेसे प्राप्त होता है और ब्रह्मज्ञान जिससे

प्राप्त हो ऐसी मीमांसाका फल मोक्ष है और उसमें अन्य किसी अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं होती है (इस प्रकार दोनों मीमांसाओंका फल भिन्न २ है, इस लिये ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह कहना भी ठीक नहीं है) [भव्य…तन्त्रम्] धर्मजिज्ञासाका जिज्ञास्य (विषय) धर्म है वह भव्य (जन्य) है अर्थात् अनुष्ठानके प्रभावसे उत्पन्न होता है, इस लिये वह ज्ञानकालमें नहीं होता है, क्योंकि–वह पुरुषकी चेष्टाके अधीन है अर्थात् पुरुष यदि चेष्टा करता है तो होता है नहीं तो नहीं होता, ज्ञानकालमें कर्त्तापन आदिका अभिमान नहीं होता है, अतः वह धर्मानुष्ठान नहीं करता, इस लिये ही उस समय धर्मानुष्ठान जन्य धर्म भी उत्पन्न नहीं होता है, पुरुष उस समय व्यापारशून्य होता है और निष्क्रयत्व दशामें पुण्य पाप कुछ होता ही नहीं। और इस ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त-शास्त्र) में तो जिज्ञास्य (विषय) ब्रह्म है, वह नित्य है–उसको उत्पन्न नहीं किया जाता है–वह तो सर्वकालमें रहता है, इस लिये पुरुषकी चेष्टाके अधीन नहीं है, अर्थात् वह अनुष्ठानसाध्य नहीं है जो करनेसे होय और न करनेसे न होय। (इस प्रकार धर्म और ब्रह्म दोनोंके स्वरूपमें भी भेद है) [चोदना…दाच] चोदना कहिये विधि वाक्योंकी प्रवृत्ति भिन्न २ है अर्थात् धर्म और ब्रह्म इन दोनोंके विषयके जो प्रमाणरूप विधिवाक्य हैं और उनके अर्थको बताने वाली जो शक्ति है वह भिन्न २ है (इस प्रकार प्रमाणसे भी धर्म और ब्रह्ममें भेद है, इसको ही स्पष्ट करके दिखाते हैं, कि–) [या हि…वदत्] जो

चोदना कहिये धर्म विषयक विधिवाक्य धर्मका लक्षण कहिये प्रमाणरूप हैं वे अपने विषयमें (धर्ममें) पुरुषको "यह कर, ऐसा कर" इस प्रकार आज्ञा देते हुए ही बोध देते हैं, परन्तु ब्रह्मचोदना कहिये ब्रह्मविषयक विधिवाक्य तो पुरुषको केवल बोध (ज्ञान) ही देते हैं अर्थात्–"अयमात्मा ब्रह्म, तद्विजिज्ञासस्व" यह आत्मा ब्रह्म है, इसको जान ऐसे उपदेशके द्वारा केवल उसमेंके अज्ञान संशय आदि को दूर कर देते हैं, तब आत्मविषयक ज्ञान स्वयं ही उदय होजाता है। अवबोध वा सम्यक्ज्ञान किसी विधिवाक्यसे उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् "आत्मज्ञानको कर" ऐसा कहने पर पैदा नहीं किया जाता है। जैसे इन्द्रियके साथ किसी बाहरी पदार्थकी समीपता होने पर उस पदार्थका ज्ञान वा अवबोध अपने आप होजाता है (वहाँ कोई यह नहीं कहता कि–इसको कर, आत्मज्ञानके विषयमें भी यही बात है (इस प्रकार धर्म और ब्रह्म दोनोंके जिज्ञास्य–विषयमें भेद है, इस लिये 'अथ' शब्द इन दोनोंके विचारके क्रमको नहीं करता है अर्थात् धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये, यह अर्थ सर्वथा असङ्गत है, यह बात सिद्ध होगई) [तस्मात्'''श्रिश्यत इति] (ऊपर किये हुए विचारके अनुसार 'अथ' शब्दका अनन्तरके सिवाय और कोई अर्थ तो ठीक बैठता नहीं, इस लिये आनन्तर्य अर्थ ही लेना होगा) इस लिये ऐसा कोई बताना चाहिये, कि–जिसके अनन्तर (अव्यवहिते परे) ब्रह्मजिज्ञासा वा ब्रह्मज्ञानका उपदेश होसके। शिष्यके ऐसा कहने पर गुरुने कहा [उच्यते] कहते हैं–सुनो–

(भाष्य)–नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्र फलभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वञ्च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वञ्च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुञ्च न विपर्यये, तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

(अनुवाद)–[नित्या…विपर्यये] एक नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक अर्थात् नित्य क्या है और अनित्य क्या है–इसका अनुसन्धान करना। दूसरा इस लोकमें और परलोकमें विषयभोगमें वैराग्य। तीसरा–शम–दम आदि–साधनसम्पत्ति अर्थात् शम (लौकिक व्यवहारसे मनको हटाना), दम (बाहरी इन्द्रियोंको वशमें रखना), उपरति (आत्मज्ञानको प्राप्त करनेके लिये विषयोंके अनुभवसे विरत होना), तितिक्षा (गरमी, सरदी, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहना) समाधान (निद्रा आलस्य प्रमाद आदिको त्याग कर मनको आत्मतत्त्वको एकाग्र करना) और श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि अर्थात् गुरु और वेदांतके वाक्योंमें विश्वास) ये छः साधनसम्पत्ति कहलाते हैं। और चौथा मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्त होनेकी इच्छा। ये साधनचतुष्टय हैं (ये विवेक आदि अपनेसे अगले २ के हेतु हैं अर्थात् विवेकसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे शम उत्पन्न होता है, शमसे दम, दम से विषयानुभवका त्याग, वा कर्मत्याग, कर्मत्यागसे तितिक्षा, तितिक्षासे समाधान, समाधानसे श्रद्धा और श्रद्धासे मोक्षकी इच्छा उत्पन्न होती है। जो इस साधनचतुष्टयसे युक्त होता है वही अधिकारी होता है, अर्थात् इन साधनोंसे युक्त हो-

जाने पर ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार प्राप्त होजाता है) इन चारों गुण वा साधनोंके होने पर धर्मजिज्ञासा पहले या पीछे दोनों ही कालमें ब्रह्मजिज्ञासा की जासकती है और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति भी होसकती है, परन्तु अन्यथा अर्थात् इन चारों साधनोंके अभावमें न धर्मजिज्ञासासे पहले और न धर्मजिज्ञसासे पीछे किसी समय ब्रह्मजिज्ञासा नहीं की जासकती और न ब्रह्मज्ञान ही होसकता है। [तस्मात्...दिश्यते] इसलिये यह अवश्य ही मानना होगा, कि–महामुनि व्यासजी ने 'अथ' शब्दसे यहाँ इन सब साधनोंके आनन्तर्यका उपदेश किया है (तात्पर्य यह है, कि–जीव इन सब गुणोंसे सम्पन्न होने पर ही ब्रह्मजिज्ञासु होता है, अन्यथा नहीं होता, जिसने इन साधनोंको वशमें कर लिया है वह ही ब्रह्मतत्त्वके विचारका यथार्थ अधिकारी है, दूसरे पुरुष नहीं हैं)।

(भाष्य)–अतः शब्दो हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयः साधनानामनित्यफलतां दर्शयति–"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छान्दोग्य ८। १। ६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति–"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिः (तैत्ति० २ । १) तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या ।

(अनुवाद)–[अतः...हेत्वर्थः] सूत्रमें 'अथ' शब्दके बाद 'अतः' शब्द है । इसका अर्थ है-"इस कारणसे" अर्थात् कर्मफल स्वर्ग आदिके अनित्य होनेसे (ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये, शिष्यने कहा, कि–हे गुरो ! "अक्षय्यं ह वै चातु-

र्मास्ययाजिनः सुकृतम्" चातुर्मास्य यज्ञ करने वालेके सुकृत का नाश नहीं होता। इत्यादि श्रुतियोंसे कर्मफल नित्य सिद्ध होता है, इस लिये इससे वैराग्य नहीं होसकता तथा जीव ब्रह्मसे भिन्न है इस कारण जीवको ब्रह्मस्वरूपतारूप मोक्ष मिलना भी असम्भव है ? इस शङ्काका उत्तर देते हुए गुरुने कहा, कि-)[यस्मात्...इत्यादिः] क्योंकि-वेद स्वयं युक्ति के साथ कल्याणकारी अग्निहोत्र आदिके फलकी अनित्यता को दिखाता है कि-"सो जैसे इस लोकमें कृषि कर्म आदि से सम्पादन किया हुआ इस लोकका फल धान्य आदि नाशको प्राप्त होजाता है सदाकाल नहीं रहता, तैसे ही यज्ञ आदि पुण्यकर्मसे सम्पादन किया हुआ पारलौकिक स्वर्गादि फल भी काल पाकर नष्ट होजाता है इत्यादि [तथा... कर्त्तव्या] "ऐसे ही" ब्रह्मज्ञानी पुरुष मोक्षको पाता है इत्यादि श्रुति ब्रह्मज्ञानसे परमपुरुषार्थको दिखाती है, इस लिये पीछे कहे हुए साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होनेके अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा (कर्त्तव्या) करनी चाहिये (यहाँ सूत्रके अर्थको पूरा करनेके लिये 'कर्त्तव्या' इस क्रियापदका अध्याहार किया गया है, इस अध्याहार किये हुए पदका अन्वय करनेके लिये 'जिज्ञासा' पदका लक्ष्यार्थ 'विचार' लेना होगा, यही सूचित करनेके लिये समासका अन्वयार्थ दिखाते हुए कहते हैं, कि-)

(भाष्य)-ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम् 'जन्माद्यस्य यतः' इति । अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्

ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।

(अनुवाद)-[ब्रह्मणः···तव्यम्] ब्रह्मकी जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मको जाननेकी इच्छा ब्रह्मजिज्ञासा कहलाती है, तात्पर्य यह है, कि-इच्छासम्भूत विचारजनित ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको पानेकी इच्छा करनी चाहिये । ब्रह्म क्या वस्तु है ? "जन्माद्यस्य यतः" इस अगले सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण कहेंगे, उस लक्षण वाले ब्रह्मको ही यहाँ लिया जायगा । इस लिये ब्रह्म शब्दका ब्राह्मणजाति या पद्मयोनि ब्रह्मा-अर्थ क्यों नहीं लिया जाय ? ऐसी शङ्का यहाँ नहीं करनी चाहिये । [ब्रह्मणः···शाच्च] ब्रह्मणः यह जो ब्रह्मन् शब्दमें षष्ठी विभक्ति है शेषषष्ठी (संबन्धसामान्यमें षष्ठी) नहीं है, किंतु कर्ममें षष्ठी है, क्योंकि-जिज्ञासामात्रमें जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है, (जिज्ञासा पदमें सन् प्रत्ययका अर्थ है-इच्छा, इस इच्छाका ज्ञान कर्म है और उस ज्ञानका कर्म ब्रह्म है, कर्मका ज्ञान हुए विना सकर्मकक्रियाका अर्थ समझमें नहीं आता, इस लिये पहले कर्मकी अपेक्षा होती है) यहाँ ब्रह्मके सिवाय और किसी जिज्ञास्य (विषय वा कर्म) का निर्देश किया नहीं है, इस कारणसे यहाँ कर्म षष्ठी है, शेष षष्ठी नहीं है ।

(भाष्य)-ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः

स्यात् । न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थ-त्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्त-त्वात् । ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम् । तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञा-सितैर्विना ब्रह्मजिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्ता-न्येवेति न पृथक् सूत्रयितव्यानि । यथा राजाऽसौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत् । श्रुत्यनुगमाच्च । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति० ३ । १) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्वि-जिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञा-साकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणिषष्ठीपरिग्रहे सूत्रे-णानुगतं भवति, तस्माद् ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी।

(अनुवाद)-[ननु⋯स्यात्] शिष्यने शङ्का करते हुए कहा, कि-हे भगवन् ! यदि यहाँ सम्बन्ध अर्थ वाली षष्ठी ही मान लें तो भी ब्रह्मकी जिज्ञासारूप कर्ममें जरा भी विरोध नहीं आता है, क्योंकि-जो वस्तु सामान्य संबंध को दिखाती है वह विशेष संबन्धको भी दिखाती है (तात्पर्य यह है, कि-"शेषे षष्ठी" (२ । ३ । ५०) शेष अर्थमें षष्ठी होती है । इस सूत्रके अनुसार षष्ठी सामान्यरूपसे संबन्धको दिखाती है और सामान्य सम्बन्धका ज्ञान होने पर विशेष सम्बन्धको जाननेकी आकांक्षा होती ही है, इस लिये स-कर्मक क्रियाके समीप होनेके कारण कर्मरूप विशेष संबंध को दिखा देती है) [एवमपि⋯स्यात्] ऐसा मान लें तो भी ब्रह्मके प्रत्यक्ष कर्मत्वको त्याग कर सामान्य सम्बन्ध

द्वारा परोक्ष कर्मत्वकी कल्पना करनेमें तुम्हारा उद्योग व्यर्थ होगा (तात्पर्य यह है, कि–यद्यपि इसप्रकार ब्रह्मके कर्मत्वका अर्थ निकल आता है, तो भी "कर्तृकर्मणोः कृति" (२ । ३ । ५) कृदन्तके योगमें कर्तृवाचक और कर्मवाचक पद षष्ठी विभक्तिमें आजाता है। यहाँ 'जिज्ञासा' पद कृदन्त है, उस कृदन्तके योगमें किये हुए और जिसकी पहले अपेक्षा रहती है ऐसे कर्मत्वको त्याग कर परोक्ष–अशाब्द कर्मत्व की कल्पना करनेका प्रयास व्यर्थ है, इस पर कहते हैं, कि–) [न व्यर्थः ··· तद्वत्] व्यर्थ नहीं है, क्योंकि–उसके द्वारा ब्रह्मके आश्रयसे रहने वाले सकल पदार्थोंका विचार करना होगा, ऐसी प्रतिज्ञा करनेका अर्थ निकलता है (तात्पर्य यह है, कि–शेषषष्ठी या संबन्ध सामान्य षष्ठी माननेसे ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा होती है अर्थात् ब्रह्मसंबन्धी लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान, साधन, फल इन सबके विचारकी प्रतिज्ञा होती है, क्योंकि–इन सबकी जिज्ञासासे भी ब्रह्मज्ञान होता है, इस लिये ये भी ब्रह्मसंबन्धी हैं और कर्मवाचक षष्ठी माननेसे तो केवल ब्रह्मरूप कर्मका ही विचार होता है, इस लिये यहाँ शेषषष्ठी कही है और मेरा उद्योग व्यर्थ नहीं है, इस पर सिद्धान्ती कहता है, कि–यह जो तुम्हारा कथन है सो ठीक नहीं है, क्योंकि–प्रधानका ग्रहण होजाने पर उसकी अपेक्षा रखने वाले सब अर्थोंका आक्षेप होजाता है (तात्पर्य यह है, कि—प्रधान ब्रह्मका ग्रहण होनेसे ही उसके साथकी अपेक्षा रखने वाले उसके लक्षण प्रमाण आदि सबका ग्रहण होजायगा) "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" १ । ४ ।

४६ कर्त्ताकी क्रियासे प्राप्त करनेमें जो ईप्सिततम–परम इच्छित कारक है उसकी कर्म संज्ञा होती है, इस सूत्रके अनुसार ज्ञानसे प्राप्त होनेमें इष्टतम होनेके कारण ब्रह्म प्रधान है, उस प्रधान–जिज्ञासाके कर्मका ग्रहण हुआ, कि-जिनकी जिज्ञासाके विना ब्रह्मकी जिज्ञासा नहीं होसकती उन सबका अपने आप ही ग्रहण होजायगा, उनको सूत्रमें अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे, कि'–यह राजा जा रहा है' ऐसा कहने पर उसके साथमें उसके अनुयामी लोग भी जा रहे हैं यह बात स्वयं ही कथित होजाती है, ऐसे ही यहाँ भी 'ब्रह्म विचार करे' ऐसा कहने पर 'ब्रह्मके आश्रित सकल पदार्थों का विचार करे, यह स्वयं ही कहा हुआ होजाता है। [श्रुत्यनुगमाच्च] और श्रुतिके वर्णन वा उपदेशके साथ सूत्रका मिलान करने पर भी (कर्मवाचकषष्ठी ही सिद्ध होती है [यतो···षष्ठी] 'जिसमेंसे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं' इत्यादि श्रुतियें 'उसको ही जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है' इस प्रकार ब्रह्मको ही जिज्ञासाका कर्मरूपसे प्रत्यक्ष दिखाती हैं। यह सब कर्मवाचकषष्ठी लेनेसे ही सूत्रके साथ मेल खाता है, इस लिये 'ब्रह्मणः' यह कर्म षष्ठी ही है।

(भाष्य)–ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः। कर्मफलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेना वगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

(अनुवाद)–[ज्ञातु···तव्यम्] जाननेके वा ज्ञानके उद्देश्य

से जो इच्छा होती है, वह ही 'जिज्ञासा' शब्दका अर्थ है। (इस पर शंका होती है, कि–किसी वस्तुका ज्ञान हुए बिना उसके विषयमें इच्छा हो यह तो देखनेमें नहीं आता, इस लिये इच्छाका मूल तो विषयज्ञानको कहना चाहिये, ब्रह्म-ज्ञान तो जिज्ञासाका फल है वह इच्छाका मूल कैसे होसकता है ? अर्थात् ब्रह्मको जाननेके उद्देशसे इच्छा कैसे होसकती है ? इस शङ्काका उत्तर कहते हैं, कि) अवगति पर्यन्त ज्ञान सन्वाच्य इच्छाका कर्म है, क्योंकि–इच्छाका विषय फल है (तात्पर्य यह है, कि–'जिज्ञासा' पदमें सन् प्रत्यय इच्छाका वाचक है,इसलिये इच्छा सन् प्रत्ययकी वाच्य है, उस इच्छाका कर्म अवगतिपर्यन्त ज्ञान है अर्थात् आवरणकी निवृत्ति होकर ब्रह्मसाक्षात्कार जो होता है वह ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान है, यही जिज्ञासाका कर्म और यही फल है और ब्रह्मका जो ऊपरी–अपूर्ण ज्ञान होता है वह इच्छाका मूल है, इस प्रकार फल और मूल भिन्न भिन्न होनेसे जिज्ञासा योग्य है। इसपर भी शङ्का उठती है, कि–जैसे "ग्रामं गच्छति-ग्रामको जाता है" इसमें ग्राम कर्म है और ग्रामकी प्राप्ति फल है, इसप्रकार कर्म और फल जुदे २ हैं, इस लिये यहाँ जो कर्म और फलको एक कह दिया, यह अनुचित है ? इसके ही उत्तरके लिये कहा है,कि–"इच्छाका विषय फल है" अर्थात् दूसरी क्रियाओं में फल और कर्म जुदे २ होते हैं परन्तु इच्छा करनेकी क्रिया में यह नियम लागू नहीं होता है, मनुष्य जो इच्छा करता है वही इच्छाका फल होता है, इस लिये जो कर्म है उसको ही फल कहा है, परन्तु "अवगति पर्यन्त ज्ञान" ऐसा कहनेका

क्या अर्थ है ? ज्ञान और अवगति तो एक ही पदार्थ है, इस लिये इन दोनोंमें भेद कहना ठीक नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-) ज्ञानरूप प्रमाणसे जिसको जाननेकी इच्छा की गई है वह ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्मकी अवगति फल है, क्योंकि-ब्रह्मकी अवगति पुरुपार्थ है। कारण यह है, कि-ब्रह्मकी अवगति (साक्षात्कार) से संसारकी बीजरूप अविद्या आदि अनर्थका निःशेषरूपसे नाश होता है, इस लिये ब्रह्म ही जिज्ञासाका विषय है अर्थात् अधिकारीको ब्रह्मज्ञानके लिये विचार करना चाहिये।

(भाष्य)-तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते-अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्॥ न। तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इंद्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादि

व्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता, भोक्तेत्यपरे । भोक्तैव केवलं न कर्त्तेत्येके । अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे । एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः । तत्राविचार्य यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् । तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥ १ ॥

(अनुवाद)–[तत्···सितुमिति] शिष्यने कहा, कि–हे गुरो ! ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध है ? यदि कहो, कि–प्रसिद्ध है तो वह जिज्ञासाके योग्य नहीं होसकता अर्थात् जो वस्तु पहले ही सबकी जानी हुई है उसको फिर जानना क्या ? यदि कहो, कि–अप्रसिद्ध है–सकल प्रमाणोंसे अज्ञात है, तो भी उसकी जिज्ञासा नहीं की जासकती–उसके विषय का विचार नहीं होसकता,(जो बुद्धिमें न आवे उसका विचाररूप शास्त्रसे या वेदान्तसे प्रतिपादन करना योग्य नहीं है, जहाँ विषय और शास्त्रमें संबन्ध नहीं वहाँ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इस लिये ही उसका कुछ फल भी नहीं होता, इस लिये ऐसे विचार शास्त्रका आरम्भ करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती इस लिये कहिये ब्रह्मका स्वरूप कैसा है ? [उच्यते] ब्रह्मका स्वरूप कैसा है, उसको बताते हैं, सुन–[अस्ति···ब्रह्म] नित्य (देश काल वस्तु आदिके परिच्छेदसे रहित , शुद्ध (अविद्या आदि दोषोंसे शून्य), बुद्ध (बद्धतारहित) और मुक्त (कदापि बन्धनमें न पड़े ऐसे)

स्वभाव वाला (निर्गुण ब्रह्म) है तथा सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् (सगुण ब्रह्म वा सोपाधिक ईश्वर) भी है। ब्रह्म शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी इन नित्यशुद्ध आदि अर्थोंकी ही प्रतीति होती है, क्योंकि-ये सब अर्थ बृह् धातुके अर्थका अनुसरण करते हैं (तात्पर्य यह है, कि-बृह् धातुसे मन् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द बना है बृह धातुका अर्थ–वृद्धि, महान् वा बड़ा है। मन् प्रत्ययका अर्थ—निरतिशय अर्थात् अवधिरहित है। जो निरतिशय महान् है-जिसकी अपेक्षा बृहत्–बड़ा, व्यापक वा उत्कृष्ट दूसरा कोई नहीं है वही ब्रह्म है। जो नश्वर (अनित्य) है, जो दोषयुक्त (अशुद्ध) है, जिसमें सर्वज्ञता आदि गुण नहीं हैं उसको हम निरतिशय महान् नहीं मानते हैं, इस लिये ब्रह्म शब्दके द्वारा नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्तस्वभावता आदि अर्थोंका अनुभव होता है। (दोषशून्य होनेसे नित्यशुद्ध है, चेतन होनेसे नित्यबुद्ध है और अवधि वा सीमारहित होनेसे नित्यमुक्त है) इसके सिवाय ब्रह्म सबका आत्मा है, इस लिये उसका अस्तित्व प्रसिद्ध है, क्योंकि–'अहम्–मैं' इस प्रकार आत्माके–अपने अस्तित्वकी प्रतीति जीवमात्रको होती है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति किसीको नहीं होती है। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न हो अर्थात् आत्मा शून्य है ऐसी प्रतीति होती हो तब तो सब लोगोंको 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान हुआ करे [परन्तु लोकोंको तो मैं हूँ ऐसा ज्ञान होता है, इस लिये यह अवश्य ही मानना होगा, कि–आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध है। यदि कहो, कि–आत्मा प्रसिद्ध रहो ब्रह्म तो प्रसिद्ध नहीं है तो इसके उत्तरमें कहते हैं, कि–

आत्मा ही ब्रह्म है (श्रुति भी कहती है, कि-"अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा ही ब्रह्म है)। [यदि···स्तेः] शिष्यने कहा, कि-हे गुरो! यदि लोकमें ब्रह्म आत्मारूपसे प्रसिद्ध है तब तो वह जाना हुआ है ही फिर उसको जाननेकी इच्छा कैसी? इस लिये ब्रह्म सर्वथा अजिज्ञास्य है, यह आपत्ति फिर आकर खड़ी होगयी? (गुरुने कहा कि-हे शिष्य! इसमें तेरी भूल है) ऐसा नहीं है, इस विषयमें लोगोंको विशेष ज्ञान नहीं है, क्योंकि-उनमें मतभेद है लोग ब्रह्मात्म-वस्तुको जानते तो हैं; परन्तु वे उसके सामान्यभावको ही जानते हैं, विशेष तत्त्वको नहीं जानते। सब लोग 'ब्रह्म है' 'मैं हूँ' इतना ही जानते हैं, परन्तु ब्रह्मका वा आत्माका ठीक स्वरूप क्या है, इसको नहीं जानते। यदि विशेष तत्त्व वा निश्चित स्वरूपको जानते होते तो विप्रतिपत्ति-मतभेद क्यों होता? भिन्न २ लोग भिन्न २ निर्णय क्यों करते? [देह इत्यपरे-प्राकृत मनुष्य अर्थात् ज्ञानचर्चासे शून्य अज्ञानी पुरुष और चार्वाकमतको मानने वाले लौकायतिक १ यह निर्णय

(टिप्पणी)-१ लोके आयतं लोकायतं लोकायतं,लोकायतं मतं येषां ते लौकायतिकाः। लोकमें जो कुछ फैला हुआ स्थूल रूप दीखता है, यह लोकायत कहलाता है, इसको ही जो मानते हैं वे लौकायतिक कहलाते हैं। लौकायतिक और चार्वाक ये दोनों पर्याय शब्द हैं। चार्वाकके मतमें देहसे अलग और कोई चैतन्य नहीं है, इसलिये जीवित देह ही आत्मा वा अहमास्पद है, देहमें जो चैतन्य दीखता है वह इस देहके उपादानरूप भूतोंका गुण वा धर्म है।

कर बैठे हैं, कि–यह चैतन्यविशिष्ट देहमात्र ही आत्मा है (अर्थात् देहसे भिन्न स्वतन्त्र या अस्वतन्त्र चैतन्य है ही नहीं, किन्तु देहके आकारमें परिणाम पाये हुए चार भूतोंमें ही चैतन्य अन्तर्भूत है। जो कुछ दीखे उसको ही कहने और मानने वाले लौकायतिक त्वक् इन्द्रियके आधार देहमें ही "मैं मनुष्य हूँ" ऐसी बुद्धि होनेसे यह देह ही आत्मा है, ऐसा मानते हैं, इनको देहात्मवादी भी कहते हैं) दूसरोंका मत है, कि–चेतन इन्द्रियें ही आत्मा हैं (तात्पर्य यह है, कि देह हो और नेत्रादि इन्द्रियें न हों तो स्वप्न आदिमें स्वरूप का ज्ञान नहीं होसकता, इसलिये चैतन्य इन्द्रियोंका अनुसरण करता है और अहंबुद्धि इन्द्रियोंमें ही होती है, इसलिये इन्द्रियें ही आत्मा हैं, ऐसा देहात्मवादियोंकी अपेक्षा कुछ सूक्ष्मबुद्धि रखनेवाले चार्वाकोंका मत है) और तीसरे कहते हैं, कि–मन ही आत्मा है (अर्थात् स्वप्नमें नेत्र आदि इन्द्रियें काम न करती हों तो भी केवल मनमें ही ज्ञान देखने में आता है और अहंबुद्धि मनमें ही पूर्णरीतिसे देखनेमें आती है, इसलिये मन ही आत्मा है, ऐसा इन्द्रियात्मवादियोंकी अपेक्षा सूक्ष्मबुद्धि वाले चार्वाकोंका मत है)। एक कहते हैं कि–क्षणविनाशी विज्ञानप्रवाह ही आत्मा है अर्थात् कोई बाहरी पदार्थ है ही नहीं, केवल आन्तर–भीतरी विज्ञान ही है, वही आत्मा है और वह क्षणिक है, इसके सिवाय और कोई अलग आत्मा नहीं है, बाहरी पदार्थ विज्ञानका ही आकाररूप है, यह योगाचार नामके बौद्धोंका मत है) इन से अन्य सम्प्रदाय वाले कहते हैं, कि–आत्मा कोई पदार्थ

नहीं है, शून्यताका ही दूसरा नाम आत्मा है (अर्थात् आन्तर-भीतरी वा बाहरी कोई पदार्थ है ही नहीं, सब शून्य ही शून्य है, अहंबुद्धि आकस्मिक और निराश्रय है—अहं या मैं ऐसे ज्ञानका कोई अवलम्ब नहीं है, इस लिये वह असत् वा शून्य है, यह शून्य ही आत्मतत्त्वका स्वरूप है, यह माध्यमिक नामक बौद्धका मत है) दूसरे अर्थात् तार्किक + कहते हैं; कि—आत्मा देह आदिसे भिन्न (देहके आश्रयसे रहने वाला) और संसारी कहिये आवागमनशील है तथा यह संसारी आत्मा कर्मोंका कर्त्ता और कर्मफलका भोक्ता है । १ (सांख्य मत वाले कहते हैं, कि-आत्मा भोक्ता ही है कर्त्ता नहीं है (तात्पर्य यह है, कि—आत्मा कुछ नहीं करता, प्रकृतिका कर्त्तापन उस में छाया रूपसे अनुक्रान्त होता है, इस लिये वह भोक्ता है, कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार आत्मा देहादिरूप है या देहादिसे भिन्न है, इस मतभेदमें पहले देहादिरूप होनेमें देह, इन्द्रियें, मन, विज्ञान बुद्धि और शून्य इन भिन्न २ कोटियोंके मत भेद दिखाये और यदि देहादिसे भिन्न हो तो वह कर्त्ता भोक्ता है या नहीं, इस विषयमें तार्किक और सांख्यका मतभेद दिखाया, अब यदि आत्मा अकर्त्ता है तो वह ईश्वरसे भिन्न है या नहीं. इस विषयमें योगका मत कहते हैं, कि—) इस देहाश्रयी संसारी आत्मासे अन्य और एक स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर नामक आत्मा है ऐसा कोई कहते हैं।

(टिप्पणी)—+ यहाँ तार्किक शब्दसे नैयायिकको नहीं लिया जायगा, किंतु प्रभाकर आदि मीमाँसकोंको यहाँ तार्किक शब्दसे कहा है ।

दूसरे (वेदान्तमतावलम्बी) कहते हैं, कि—वह (ईश्वर) उस भोक्ताका (जीवका) आत्मा (स्वरूप) है अर्थात् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरात्मा संसारी आत्माका आत्मा कहिये स्वरूप है,ऐसा अपर कहिये जो पर नहीं हैं ऐसे स्वयं वेदान्ती कहते हैं। [एवं'''सन्तः] इस प्रकार युक्ति, वाक्य और उनके आभासका आश्रय लेने वाले बहुतसे मत हैं (तात्पर्य यह है, कि-सिद्धान्तीका मत तो युक्ति और श्रुति वाक्योंके आधार पर है. परन्तु अन्य बहुतसे मत युक्ति और श्रुति-वाक्यके आभासका आश्रय लिये हुए हैं अर्थात् उनकी युक्तियें कहिये साधक बाधक प्रमाण केवल प्रमाणका आभास हैं अर्थात् प्रमाणसे दीखते हैं। वास्तविक प्रमाण नहीं हैं सिद्धांती के सिवाय दूसरोंके मत किस प्रकार युक्त्याभास और वाक्या-भासके आधार पर हैं, यह आगे दिखाया जायगा। शिष्य ने कहा, कि-हे गुरो ! जो भिन्न २ मत हैं वे भले ही रहें,जिस को जिस मत पर श्रद्धा होगी वह उसका आश्रय लेकर अपने स्वार्थको सिद्ध करलेगा, ब्रह्मविचारका आरम्भ करनेकी क्या आवश्यकता है ? गुरुने इसका उत्तर देते हुए कहा कि-हे तात ! [तत्र'''अनर्थं चेयात्]इस विषयमें विना विचार किये चाहे जिस मतको ग्रहण करने वाला मुक्तिमार्गसे भ्रष्ट होजायगा और अनर्थमें पड़ जायगा (तात्पर्य यह है, कि ब्रह्म और आत्मा एक ही है, इस ऐक्यज्ञानसे ही मुक्ति होती है, यही तत्त्व है। अन्य मतका आश्रय लेनेसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उल्टा आत्मा, मिथ्याज्ञान होने के कारण उसके पापसे संसाररूप अंधकूपमें पड़ता है। श्रुति

कहती है, कि-"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः" जो पुरुष आत्मघाती होते हैं वे नरकमें पड़ते हैं, तथा "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किन्तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥" जो मनुष्य, आत्माका जैसा स्वरूप है उससे भिन्न प्रकारका समझता है, उस आत्मघाती चोर ने कौनसा पाप नहीं किया ? अर्थात् उसने सब ही पाप कर डाले। इस प्रमाणसे आत्माके सत्यस्वरूपको न समझने वाला आत्मघाती और महापापी गिनाजाता है [तस्मात्··· प्रस्तूयते] इस लिये ब्रह्मजिज्ञासाकी उक्तिके द्वारा जिसमें अविरुद्ध तर्क साधनभूत है और जिसका प्रयोजन मोक्ष है ऐसी वेदान्तमीमांसाका आरम्भ किया जाता है अर्थात् अनुकूल तर्ककी सहायतासे मोक्ष पानेके लिये वेदान्तके पूज्य विचारका आरम्भ किया जाता है (यहाँ शङ्का होती है, कि-सूत्रमें तो विचारका वाचक कोई पद है नहीं तो फिर "विचारका आरम्भ किया जाता है" यह अर्थ कहाँसे आ गया ? इस शङ्काका समाधान करनेके लिये कहते हैं "ब्रह्मजिज्ञासाकी उक्तिके द्वारा विचार अर्थ निकलता है" अर्थात् जिज्ञासाका मुख्य अर्थ है ज्ञानकी इच्छा, परन्तु इच्छाका अध्याहार किये हुए "कर्त्तव्या, करनी चाहिये" के साथ अन्वय नहीं बैठता, क्योंकि-इच्छा की नहीं जाती है, इसलिये लक्षणाका आश्रय लेकर जिज्ञासा पदका 'विचार' अर्थ किया गया है)।

(भाष्य)-ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकारः ।

(अनुवाद)-[ब्रह्म...सूत्रकारः] पहले सूत्रमें कह चुके हैं, कि—ब्रह्मको जाने ब्रह्मका विचार करे अथवा विचार-जनित निर्मल ज्ञानके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार करे। परन्तु ब्रह्म क्या है ? उसका लक्षण या स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न उठता है, इसलिये भगवान् सूत्रकार (व्यासदेव) कहते हैं, कि-

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

(सूत्रार्थ —यतः-यत्सकाशात्, अस्य जगतः, जन्मादि-जन्मस्थितिभङ्गं, भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः पूरणीयः। (यतः) जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणसे (अस्य) इस जगत्का (जन्मादि) जन्म, पालन और प्रलय [भवति] होता है [तत्] वह अखण्ड नित्य चिद्रूप वस्तु ही [ब्रह्म] ब्रह्म है ॥ २ ॥

(भाष्य)-जन्म-उत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं, वस्तुवृत्तापेक्षञ्च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति० ३ । १) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिलयसम्भवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसन्निधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः, अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रिया

फलाअवस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थिति-भङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः ।

(अनुवाद)-[जन्म···पेतश्च] जन्म अर्थात् उत्पत्ति है आदि जिसका वह जन्मादि कहलाता है, इसप्रकार तद्गुण-संविज्ञान † बहुव्रीहि समास है इस समासका अर्थ है—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय । सूत्रकारने श्रुतिके निर्देश (उच्चारण) और वस्तुओंके स्वभावके अनुसार जन्म शब्दका पहले उल्लेख किया है [श्रुतिनिर्देशस्तावत्] प्रथम श्रुतिका उच्चारण इस प्रकार है [यतो···जायन्ते] ये सकल भूत (जन्म पदार्थ) जिससे उत्पन्न होते हैं ‡ इत्यादि श्रुतिवाक्यमें पहले जन्म, फिर स्थिति और तदनन्तर उनका लय ऐसा क्रम देखनेमें आता है तथा सकल वस्तुओंका स्वभाव भी (ऐसा ही) है, जन्मसे अस्तित्व पाने वाले धर्मी (पदार्थ) की स्थिति

(टिप्पणी)—† तस्य अन्यपदार्थस्य गुणत्वेन विशेषणत्वेन संविज्ञानं घटकत्वं यत्र असौ तद्गुणसंविज्ञानः-अर्थात् जिस बहुव्रीहिमें अन्य पदार्थका विशेषणरूपसे अर्थ-घटकपना है वह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि कहलाता है। जैसे कि—'लम्बकर्णमानय-' लम्बे कान वालेको ला, 'लोहितोष्णीषमानय'-लाल पगड़ी वालेको ला, यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है।

‡ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति" (तैत्तिरीय भृगुवल्ली १ अनुवाक)

होकर अन्तमें प्रलय अर्थात् नाश हुआ करता है। [अस्य… शेषः] अस्य यह इदं शब्दके द्वारा प्रत्यक्ष आदिसे ग्रहण किये हुए जगत्का निर्देश (इशारा) किया है। पष्ठी जन्म आदि धर्मोंके सम्बन्धकी वाचक है। "यतः" इस शब्दके द्वारा जो इसका मूल कारण है उसका निर्देश किया है। (इन सब पदोंके अर्थोंको मिलाने पर यह वाक्यार्थ होता है कि–) अनेकों नाम और रूपोंके द्वारा व्याकृत अर्थात् स्थूल सृष्टिरूपको प्राप्त–प्रकाशमान, अनेकों कर्त्ता और भोक्ताओं से संयुक्त, नियमित देश, काल, निमित्त और क्रियाफलके आश्रय और जिसकी रचनाका स्वरूप मनसे भी अचिन्त्य है ऐसे जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है, इसमें 'तद्, ब्रह्म' यह वाक्यशेष है (तात्पर्य यह है, कि जैसे कुम्भकार पहले, कुम्भशब्दसे अभिन्न मोटाई तली पेट आदि आकार स्वरूप को बुद्धिमें विचार कर उस ही स्वरूप से कुम्भको स्थूलरूप में प्रकट करता है ऐसे ही परमकारण सर्वज्ञ ब्रह्म भी स्व प्रत्यक्ष किये हुए जगत्का नामरूपसे व्याकार करता है अर्थात् स्थूल रूपमें प्रकट करता है, इस लिये प्रधान (प्रकृति शून्य × आदि इस जगत्के कर्त्ता नहीं होसकते, तथा हिरण्य

× सांख्यमतमें आत्मा, मूल प्रकृति, महद्, अहङ्कार पञ्च तन्मात्रा और सोलह विकार यह पचीस तत्त्व हैं। में आत्मा शीकर (जलकण) से निर्लिप्त (जिसमें न लगा है ऐसे) कमलके पत्तेकी समान कर्त्तापन भोक्तापन आदि धर्मोंसे निर्लिप्त है, वह प्रकृति भी नहीं है और विकार

गर्भ आदि जीव भी जगत्को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि—वे तो उत्पन्न होने योग्य कोटिमें हैं, इस लिये जगत् के कर्त्ता नहीं होसकते। ऋत्विक् आदि यज्ञके कर्त्ता तो होते हैं परन्तु यज्ञके फलके भोक्ता नहीं होते पित्रादि श्राद्धमें भोक्ता होते हैं परन्तु कर्त्ता नहीं होते, इस लिये जो कर्त्ता भी नहीं है, कारण भी नहीं है तथा कार्य भी नहीं है, केवल साक्षिभूत है और चेतन है। मूल प्रकृति ही जगत्को उत्पन्न करती है, नित्य है और जड़ (अचेतन) है, इसलिये विकृति नहीं है। मूलप्रकृतिको प्रधान भी कहते हैं। महत्तत्त्व प्रकृतिका परिणाम है, कार्य है, इसको ही बुद्धि और अन्तःकरण कहते हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा अभिमान ही अहङ्कार है, यह महत्तत्त्वका कार्य है। तन्मात्रा कहिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये अहंकारका कार्य हैं। महत् आदि सात प्रकृति हैं और विकार भी हैं, कारण हैं और कार्य भी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियें (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा), पाँच कर्मेन्द्रियें (वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और पायु), पाँच महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, आकाश, और वायु) तथा मन ये सोलह विकार हैं। पञ्चमहाभूतसे शरीर उत्पन्न होता है, उसके संबन्धसे प्रकृति ही सब काम करती है, उसके संसर्गसे 'मैं करता हूँ' इस प्रकार आत्माको अभिमान होता है, यही आत्माका बन्ध कहलाता है और इस अभिमानकी निवृत्ति ही आत्माका मोक्ष है, यह सांख्यदर्शन का मत है। बौद्ध शून्यवादी हैं वे शून्यमेंसे ही जगत्की उत्पत्ति मानते हैं।

हो वही भोक्ता हो, ऐसा नियम सर्वथा नहीं है, इस लि भाष्यमें कर्त्ता और भोक्ता दोनों पद अलग २ दिये हैं। जग का कर्त्ता सर्वज्ञ ही होसकता है, यह बात दिखानेके लि "नियमित हैं देश काल और निमित्त जिसके ऐसे क्रिय फलका आश्रय कहा है" किसी कार्यके लिये देश नियत है जैसे स्वर्ग फलके लिये मेरुपर्वतका पृष्ठ। किसी कार्यके लि काल नियत है, जैसे स्वर्गप्राप्तिके लिये शरीरपातके पीछे काल, और पुत्रप्राप्तिके लिये बालकपनसे ऊपरका काल निमित्त भी नियत है, जैसे स्वर्गप्राप्तिके लिये उत्तराय मरण आदि। ऐसे जगत्की रचना असर्वज्ञ नहीं करसक ऐसी व्यवस्थाको जाननेवाला ही जगत्का कर्त्ता होसक है, जीवोंसे तो इस जगत्का मनसे चिंतवन होना भी क है फिर जीवोंमें उत्पन्न करनेकी शक्ति तो होगी ही से? जिनका उच्चारण नहीं किया हो ऐसे अध्याहार हुए पद वाक्यशेष कहलाते हैं)।

(भाष्य)–अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वे न्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्। या स्कपरिपठितानान्तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्र तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मू कारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्यु त्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्त स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

(अनुवाद)–[अन्ये…गृह्यन्ते] अन्य भावविका भी इन तीनमें ही अन्तर्भाव है, इस लिये यहाँ जन्म

और नाशका ही ग्रहण किया है (तात्पर्य यह है, कि-यास्क-मुनिके ग्रन्थ निरुक्तमें ह्रास, वृद्धि और अपक्षय इन तीन परिणाम या भावविकारोंका वर्णन और है, परन्तु वृद्धि और ह्रासका जन्ममें, और अपक्षयका नाशमें अन्तर्भाव है, इस लिये यहाँ इन तीन विकारोंका ही प्रधानरूपसे उल्लेख किया है औरोंका उल्लेख नहीं किया) यास्कमुनिके पूर्ण-रीतिसे पढ़े हुए 'जायते, अस्ति' उत्पन्न होता है, इत्यादि भावविकारोंका ग्रहण करें तो जगत्की स्थितिके समय उन की संभावना होजाय, इसकारण मूलकारण ब्रह्मसे ही इस जगत्के उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं यह बात मानी जाय ऐसी शङ्का होसकती है, यह शङ्का न हो, इस लिये ब्रह्मकी जो उत्पत्ति होती है उसमें ही स्थिति और प्रलय होते हैं, इस प्रकार ये तीनों ही ग्रहण किये जाते हैं (तात्पर्य यह है, कि-शेष भावविकारोंका इन स्थिति आदि तीनोंमें अन्तर्भाव करनेकी क्लिष्टकल्पना क्यों की "जायते, अस्ति, वर्धते, परिणमते, अपक्षीयते, नश्यति" अर्थात् जन्मता है, बढ़ता है, परिणाम पाता है, अपक्षीण होता है और नष्ट होता है। इस यास्कमुनिके वचनको ही यहाँ क्यों नहीं कह दिया? इसका उत्तर यह है, कि-यदि अन्तर्भाव न हो तो भी यहाँ जन्म स्थिति और लयका ही ग्रहण करना चाहिये, ऐसा करनेसे इसका प्रतिपादक "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" यह वेदवाक्य बुद्धिस्थ होता है और जगत्का मूल-कारण ब्रह्म लक्षित होता है और "जायतेऽस्ति" इत्यादि यास्कके गिनाये हुए सब भावविकारोंका ग्रहण करनेसे इन

का प्रतिपादक यास्कके निरुक्तका वचन बुद्धिस्थ होता और वह वाक्य मूलकारणका प्रतिपादन नहीं करता, क्यों कि-महासृष्टिके अनन्तर स्थितिकालमें भी इस वाक्यमें क हुए जन्मादि भावविकारोंकी उपपत्ति योग्यता होसकती इस दशामें "मूलकारणसे जगत्के उत्पत्ति स्थिति नाश हैं" यह भान ही नहीं होगा, इस शङ्काको दूर करनेके लि वेदोक्त उत्पत्ति, स्थिति और लयका ग्रहण किया है। मह भूतोंके स्थितिकालमें उत्पन्न हुए भौतिक पदार्थोंमें प्रत्य प्रमाणसे जन्म आदि छः विकारोंका ज्ञान पाकर यास्कमु ने निरुक्तका वाक्य रचा है। इस वाक्यके आधार पर "ज आदि छः विकारोंका जो कारण है वह ब्रह्म है" ऐसा स का अर्थ करने पर यह शङ्का होती है, कि सूत्रकारने ब्र का नहीं किन्तु महाभूतका लक्षण कहा है। यह शङ्का न इस लिये श्रुतिमें कहे हुए जन्म आदि तीनका ही ग्रह किया है। यदि, निरुक्तके वाक्यका मूल भी श्रुति ही इस लिये जो महाभूतके जन्म आदिका कारण है वही ब्र है, यह अर्थ ठीक है, ऐसा कहो तो श्रुतिको ही सूत्रका मू क्यों नहीं मानलेते। यदि जगत्का ब्रह्मसे अन्य कारण तो उस कारणमें ब्रह्मका लक्षण अतिव्याप्त होजाय, इसलि अतिव्याप्ति आदि दोषको दूर करनेके लिये लक्षणसूत्र युक्ति दिखायी है, कि-ब्रह्मके विना जगत्के जन्म आ नहीं होसकते, क्योंकि-अन्य कारणका संभव नहीं है, युक्ति आगे तर्कपादमें विस्तारके साथ कही गयी है)।

(भाष्य)–न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथा

विशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणिनः।

(अनुवाद)—[न···शक्यम्] नाम रूप आदिसे स्थूलभावको प्राप्त हुए, इत्यादि विशेषणों वाले जगत्की उत्पत्ति आदि ऊपर कहे हुए विशेषणों वाले अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर वा ब्रह्मके सिवाय और किसीसे, अचेतन प्रकृतिसे, परमाणुओंसे, अभावसे वा संसारी जीवसे होना अशक्य है। (प्रकृतिसे, शून्यसे और संसारी जीवसे जगत्की उत्पत्ति नहीं होसकती, यह तो ऊपर दिखा चुके हैं। परमाणु अचेतन हैं, उनमें स्वयं प्रवृत्ति हो नहीं सकती और उनका प्रेरक कोई है नहीं, इस लिये उनसे जगत्का आरम्भ होना असंभव है) [न···पादानात्] तथा स्वभाव से भी उत्पत्ति आदिकी संभावना करना अशक्य है, क्यों कि यहाँ कार्यकी उत्पत्तिमें विशिष्ट देश, काल और निमित्त का ग्रहण किया गया है (तात्पर्य यह है, कि—स्वभावका अर्थ अपने आप अपना कारण होना अथवा कारणकी अपेक्षाका अभाव स्वभाव कहलाता है। यदि पहला अर्थ लें तब तो "स्वस्य स्वापेक्षापादकः प्रसङ्गः" अपनेको सिद्ध करनेमें अपनी ही अपेक्षाका प्रसङ्ग अर्थात् आत्माश्रय वा स्वाश्रय दोष आता है और दूसरा अर्थ लेनेमें भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि—कार्य उत्पन्न करना चाहने वालेको जो २

कार्य उत्पन्न करने हों उनके योग्य देश, काल और निमि
का ग्रहण करना पड़ता है, इस लिये कार्यकी उत्पत्ति
कारणका संबन्ध न हो यह नहीं माना जा सकता। यदि
कारणकी अपेक्षाके बिना ही कार्य उत्पन्न होजाया करे
अन्न उत्पन्न करना चाहने वाला विशिष्ट (खास) दे
कहिये खतीला खेत, विशिष्ट काल कहिये वर्षा काल औ
विशिष्ट निमित्त कहिये श्रेष्ठ बीज आदिकी खोज न कि
करे, इस कारण यह सिद्ध है, कि-स्वभावसे जगत्की उत्प
आदि नहीं हो सकती) [एतदेव'''कारणिनः] ईश्वर
जगत्का कारण मानने वाले मानते हैं, कि-यह अनुमा
ही संसारीसे भिन्न ईश्वरके अस्तित्व आदिका साधक है
(वे यह भी मानते हैं, कि-अनुमानके द्वारा जीवको
ईश्वरका अस्तित्व प्रतीत होता है उसका ही श्रुतिने अप
भाषामें अनुवादमात्र कर दिया है, परन्तु वास्तवमें ऐ
नहीं है)।

(भाष्य)-नन्विहाऽपि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्र
न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेद
न्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्या
विचारणाऽध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमा
नादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता। सत्सु तु वेदान्तवाक्ये
जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याया
मानमपि वेदान्तवाक्याऽविरोधिप्रमाणं भवन्न निव
र्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्
तथा हि-"श्रोतव्यो मन्तव्यः (बृह० २। ४। ५

इति श्रुतिः, पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दो० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति।

(अनुवाद)-[ननु···पेतत्वात्] शिष्यने कहा, कि–हे गुरो! हो सकता है, कि–भगवान् वेदव्यासने वह ईश्वरके अस्तित्त्वका साधक अनुमान ही इस जन्मादिसूत्रमें रख दिया हो? गुरुने उत्तर दिया, कि–नहीं ऐसा नहीं है, क्यों कि–वेदान्तवाक्यरूप पुष्पोंको गूँथनेमें ही इन सूत्रोंका प्रयोजन है (अनुमान वा युक्तियोंको गूँथनेमें नहीं है) सूत्रोंने वेदान्तवाक्योंका उदाहरण देकर उनका ही विचार किया है (यदि श्रुतिवाक्योंका स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होता तो सूत्रकार "तत्तु समन्वयात्" इत्यादि सूत्रोंमें श्रुतियोंके तात्पर्यका विचार नहीं करते, जब कि श्रुतिवाक्योंका विचार करना ही आगेके सूत्रोंका प्रयोजन है तो इस जन्मादि सूत्रमें भी स्वतन्त्ररीतिसे श्रुतिका ही विचार किया है, अनुमान सहित श्रुतिका विचार नहीं किया है, मुमुक्षुको तो ब्रह्मज्ञान इष्ट है, अनुमान इष्ट नहीं है, उसके लिये ही इस शास्त्रका आरम्भ है, श्रुति कहती है, कि–ब्रह्मज्ञान उपनिषद्से प्राप्त होता है, अनुमान से प्राप्त नहीं होता, इस लिये सूत्रोंमें अनुमानका विचार नहीं किया है) वेदान्त वाक्य और उसके अर्थके विचारसे जो तात्पर्यका निश्चय होता है, उस निश्चयसे ही ब्रह्मावगति–ब्रह्मज्ञान होता है, अनुमान वा और किसी प्रमाणके द्वारा नहीं (ऐसा कहनेमें अनुमान आदि प्रमाणोंका अनादर करनेमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु) जगत्के जन्म आदिके

कारणको कहने वाले वेदान्तवाक्योंके होते हुए भी उनके अर्थको समझनेमें दृढ़ता (संशय आदिकी निवृत्ति) के लिये यदि वेदान्तवाक्योंका अविरोधी अनुमान भी प्रमाण होता हो तो उसका हम निवारण नहीं करते, क्योंकि-श्रुति स्वयं ही सहायताके लिये तर्कको भी स्वीकार करती है (तात्पर्य यह है, कि–अनुमान आदि प्रमाणोंकी प्रधानता नहीं मानी जा सकती, किन्तु अनुमान–तर्क युक्तिको श्रुतिका सहायक मान सकते हैं) [तथाहि···दर्शयति] जैसा, कि–श्रुति कहती है, कि–"ब्रह्म श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है" यह श्रुति है तथा "जैसे पण्डित और मेधावी गन्धार देशमें ही पहुँच जाय इस प्रकार ही आचार्यवान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है" यह श्रुति अपने लिये पुरुष बुद्धिकी सहायताको दिखाती है (मननका अर्थ है-श्रुतिके अर्थकी तर्कमे संभावना करना, जैसे कन्धारदेशमेंसे किसी मनुष्य को चोर आँखों पर पट्टी बाँध कर ले जायँ तथा दूर लेजा कर जङ्गलमें छोड़ दें और कोई दूसरा पुरुष उसकी पट्टी खोल देय और उसको अपने देशमें जानेका मार्ग बता देय तो उस मार्गको समझ सकने वाला पण्डित और मेधावी कहिये तर्क करनेमें कुशल वह पुरुष अपने देशमें ही पहुँच जाता है, इस प्रकार ही जिस पुरुषको अविद्या काम आदि ने आनन्दात्मक आत्मस्वरूपसे दूर लेजा कर इस संसाररूप वनमें लाडाला है, उसको किसी दयालु आचार्यसे "तू संसारी नहीं है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म है" इस प्रकार आत्मस्वरूपके ज्ञान का उपदेश मिलता है, तथापि वह यदि स्वयं तर्ककुशल

होय तो स्वरूपको जान सकता है, नहीं तो नहीं जानता, इस प्रकार यह श्रुति अपने लिये पुरुषकी बुद्धिरूप तर्ककी अपेक्षा दिखाती है। यह पुरुषकी बुद्धिसे उत्पन्न हुआ अनुमान आदि वा तर्क केवल ब्रह्मविज्ञानको पानेमें सहायता करता है, प्रमितिज्ञान उत्पन्न नहीं करता है, इस लिये यहाँ वह स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, किंतु प्रमाणका सहायकमात्र है)।

(भाष्य) न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं, ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणं, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्त्तव्यस्य। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति। तथा "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" "उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति" इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किन्तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्। नहि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूत-

वस्तुविषयायां प्रामाण्यं, वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्।

(अनुवाद)-[न ··· गच्छतीति] जैसे धर्मजिज्ञासामें श्रुति, आदि (श्रुति, लिङ्ग, स्थान, प्रकरण और समाख्या) प्रमाण हैं, वैसे ब्रह्मजिज्ञासामें ये सब प्रमाण नहीं हैं, किन्तु (ब्रह्मविचारके विषयमें) ये श्रुति आदि भी प्रमाण हैं और अनुभव आदि भी यथासंभव (जैसे होसके वैसे) यहाँ प्रमाण हैं, क्योंकि-ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मके विशिष्ट-परिपूर्ण ज्ञान) का अनुभव (साक्षात्कार) अवसान (अन्त-चरम फल) है और सिद्धवस्तु (ब्रह्म) उसका विषय है। (शङ्का उठती है, कि-जैसे वेदवर्णित धर्ममें मननकी अपेक्षा नहीं है वैसे ही वेदप्रतिपादित ब्रह्ममें भी मनन आदि की अपेक्षा करना ठीक नहीं है, किन्तु जैसे धर्ममें श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याकी ही अपेक्षा है, ऐसे ही जिज्ञास्य ब्रह्ममें भी होनी चाहिये? इसका उत्तर देते हैं, कि-ब्रह्मविचारमें तो अनुभव, मनन और निदिध्यासन † की ही अपेक्षा है, तात्पर्य यह है, कि-मुक्तिके लिये शाब्द-श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मज्ञानके साक्षात्कारकी अपेक्षा है और सिद्ध ब्रह्मज्ञानका विषय है-इस लिये साक्षात्कार ज्ञानका फल है, उसके लिये मनन आदिकी अपेक्षा योग्य ही है। परन्तु धर्म तो नित्यपरोक्ष और साध्य है, उसके साक्षा-

(टिप्पणी)-†"श्रुतस्यार्थस्य नैरन्तर्येण दीर्घकालमनुसंधानम्" श्रुतिके अर्थका वा सुने हुए अर्थका निरन्तर चिरकाल तक अनुसन्धान करना।

त्कारकी अपेक्षा नहीं है और उसका साक्षात्कार होना असंभव भी है, इस लिये अनुष्ठानके लिये श्रुतिसे निर्णयमात्रकी अपेक्षा है। लिंग आदि तो श्रुतिमें अन्तर्भूत हैं और श्रुतिके द्वारा निर्णय करनेमें उपयोगी हैं, इस लिये उसकी अपेक्षा कीजाती है, मनन आदिकी अपेक्षा नहीं कीजाती, क्योंकि-वह अनुपयोगी है। श्रुति कहिये निरपेक्ष-जिसको किसीकी अपेक्षा नहीं है ऐसा शब्द लिङ्ग कहिये शब्दका अर्थप्रकाश करनेमें सामर्थ्य। वाक्य कहिये जिसमें पदयोग्य अन्य पदकी आकांक्षा है। प्रकरण कहिये अंग-गौण वाक्यकी अपेक्षा रखने वाला प्रधान वाक्य। स्थान कहिये-क्रमपठित अर्थका क्रमपठित अर्थके साथ अनुक्रमसे संबन्ध, जैसे कि-ऐन्द्राग्नि आदि दश इष्टियें क्रमसे पढ़ी हैं और "इन्द्राग्नी रोचना दिवः" इत्यादि दश मन्त्र क्रमसे पढ़े हैं, तहाँ प्रथम मन्त्रका प्रथम इष्टिमें, द्वितीयका द्वितीयमें विनियोग-प्रयोग करना। समाख्या कहिये संज्ञाका सादृश्य, जैसे अध्वर्यवसंज्ञक मन्त्रका आध्वर्यव संज्ञक कर्ममें विनियोग। इसप्रकार ब्रह्मको मनन आदिकी अपेक्षा है, धर्मको नहीं है) जो कर्त्तव्य है-किया जाता है-क्रियानिष्पाद्य है, उसमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं है (धर्म भी किया जाता है-क्रियासाध्य है, उसके लिये अनुभव-साक्षात्कारकी अपेक्षा नहीं है) इस लिये ऐसे क्रियासाध्य धर्म आदिके विषयमें केवल श्रुति आदिका ही प्रमाण होता है (अनुभव आदिका प्रमाण नहीं होता, अभिप्राय यह है, कि-धर्म अनुभवयोग्य नहीं है, इस कारण धर्मविषयमें वेदवाक्यके सिवाय और किसी प्रमाण

का प्रामाण्य नहीं होता और ब्रह्म अनुभवके योग्य है, इस लिये ब्रह्मके विषयमें श्रुति, युक्ति, वाक्य और अनुभव सब ही प्रमाण होते हैं) और देखो-जो कर्त्तव्य है-मनुष्य जिस को क्रियाके द्वारा वा कर्मके द्वारा उत्पन्न करता है उसका आत्मलाभ वा स्वरूपोत्पत्ति पुरुष-कर्त्ताके अधीन है। कर्त्ता चाहे तो करे, न चाहे तो न करे तथा अन्यथा वा अन्य प्रकारसे भी कर सकता है। लौकिक और वैदिक जो कुछ भी कर्म है-जो कुछ कर्त्तव्य वा क्रियानिष्पाद्य है वह सब ही इस नियमके अधीन है। जैसे कि-गमन एक कर्म है-ग्राममें पहुँचना मनुष्यका उत्पाद्य वा कर्त्तव्य है, मनुष्यकी इच्छा हो तो घोड़े पर चढ़ कर उसका निर्वाह कर सकता है, पैरोंसे चल कर भी कर सकता है, और उपायसे भी कर सकता है और उसकी इच्छा न हो तो नहीं भी जाता है। [तथा'' जुहोतीति] वैदिक कर्मके विषयमें भी ऐसा ही है-अतिरात्र नामक यज्ञमें षोड़शीनामक बलिदानको ग्रहण करनेका विधान है, परन्तु वह याज्ञिककी इच्छाके ऊपर निर्भर है अर्थात् याज्ञिक चाहे तो उसको लेलेता है और न चाहे तो नहीं लेता है। होम एक कर्त्तव्य कर्म है, परन्तु होमकर्त्ता चाहे तो उसको सूर्योदयकालमें कर सकता है और अनुदयकालमें भी कर सकता है। [विधि'''वादाश्च] विधि, निषेध, विकल्प, उत्सर्ग (साधारण विधि) और अपवाद (विशेष विधि) ये सब इस धर्मजिज्ञासामें ही सार्थक होते हैं (क्योंकि-ये सब पुरुषकी प्रवृत्तिके अधीन हैं। "यजेत—यज्ञ करे" यह विधि है। "न सुरां पिबेत्-मद्य न पिये" यह निषेध है।

"व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत-धानोंसे या यवोंसे यज्ञ करना चाहिये" यह विकल्प--पक्षान्तरबोधक वाक्य है। "न हिंस्यात्--हिंसा न करे" यह उत्सर्ग है। "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत--अग्नि और सोमके यज्ञमें पशुका आलभन करना चाहिये" यह अपवाद है। ये विधि निषेध आदि जिज्ञास्य ब्रह्मके विषयमें भी अवकाश पाजायँ, इस आपत्तिका वारण करते हुए कहते हैं, कि–) [न तु···तत्] परन्तु सिद्ध पदार्थके विषयमें— इस प्रमाणसे यह वस्तु है, इस प्रमाणसे नहीं है अथवा उस का अस्तित्व है ही नहीं, इस प्रकारके विकल्प हो ही नहीं सकते, कभी २ लोगोंको अज्ञानके कारणसे सिद्ध वस्तुके विषयमें भी विकल्प और संशय होते देखते हैं, परन्तु वह दोष अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिका होता है, वस्तुका कुछ अपराध नहीं होता है, बुद्धिके अपराधसे संशय वा विकल्प होजाता है, परन्तु वस्तु ज्योंकी त्यों ही रहती है। जो वस्तु के विषयका यथार्थज्ञान (ठीक ज्ञान) है वह पुरुषकी बुद्धि के अधीन कभी नहीं होता। तो वह कैसा होता है ? वह वस्तुके ही अधीन होता है अर्थात् किसीकी अपेक्षा न रखता हुआ स्वतन्त्र होता है। [नहि···तन्त्रत्वात्] एक स्थाणु (शाखाहीन वृक्ष–ठूँठ) यह स्थाणु है या कोई मनुष्य है ? इस प्रकारका संशयज्ञान अथवा यह स्थाणु भी नहीं है मनुष्य भी नहीं है और ही कुछ है, ऐसा विपर्ययज्ञान होने पर वह तत्त्वज्ञान नहीं होता है, तहाँ यह पुरुष है या और कोई है, ऐसा मिथ्याज्ञान होता है, स्थाणुमें स्थाणुज्ञान होने पर ही वह तत्त्वज्ञान होगा, क्योंकि–तत्त्वज्ञानमात्र वस्तु तन्त्र वा

वस्तुके अधीन है। वस्तुका जो स्वरूप है उसमें तद्रूप ज्ञा होना ही तत्त्वज्ञान है ।[एवं⋯तन्त्रम्] जैसे तत्त्वज्ञा (ठीकज्ञान वा यथार्थज्ञान) वस्तुतन्त्र वा वस्तुके अधीन ऐसे ही सिद्धवस्तु विषयक प्रामाण्य भी सिद्ध वस्तुके अधी है। [तत्र⋯विषयत्वात्] यदि ऐसा है तब तो यह मानना ही होगा, कि-ब्रह्मज्ञान भी ब्रह्मवस्तुके ही अधी है, प्रमाणके अधीन नहीं है, क्योंकि-ब्रह्मज्ञानका विषय ब्र है वह भूतवस्तु-सिद्धवस्तु अर्थात् चिरनित्य है (तात्पर्य है, कि-ब्रह्माकार मनोवृत्तिका उदय होना ब्रह्मस्वरूपके अधीन है मनुष्यकी इच्छाके अधीन नहीं है)।

(भाष्य)-ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्त विषयत्वमेवेति वेदांतवाक्यविचारणाऽनर्थिकैव प्रा न। इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात्। स्वभाव विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि । स हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मण संबद्धं कार्यमि गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम् तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्। किं त वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

(अनुवाद)-[ननु⋯निश्चेतुम्] शिष्यने कहा, कि हे गुरो! ब्रह्म यदि सिद्ध वस्तु है तब तो यह अन्य प्रम का विषय अवश्य होना चाहिये (क्योंकि-जो सिद्धव विषयक वाक्य होता है वह किसी अन्य प्रमाणसे नि होचुकता है और वह उस ही अर्थका अनुवादमात्र कर

है, जैसे कि—"नदीके किनारे पर फल हैं" यह वाक्य प्रत्यक्ष किये हुए फलोंका अनुवादकमात्र है, ऐसा ही वेदान्तवाक्यों को मानना चाहिये, वे सिद्ध वस्तुके वर्णन करनेवाले होने से अनुमान आदि अन्य प्रमाणसे देखे हुए अर्थका ही अनुवादमात्र करते हैं और यह कहा भी है, कि—जिसमें जगत् की उत्पत्ति आदि हेतु है वह अनुमान भी ब्रह्मके विषयमें एक प्रमाण है, इस प्रकार जब ब्रह्म अन्य अनुमान प्रमाण का विषय होगया तब तो सूत्रोंमें उस मूलभूत अनुमान प्रमाणका ही विचार होना चाहिये) वेदान्तवाक्योंका विचार करना निरर्थक सिद्ध होता है ? इसके उत्तरमें गुरुने कहा, कि—नहीं (तुम्हारा ऐसा समझना ठीक नहीं है, सिद्धवस्तु होने पर भी ब्रह्म प्रमाणान्तरका विषय नहीं है अर्थात् उस में वेदान्तवाक्यके सिवाय और किसी प्रमाणको अवकाश नहीं है) क्योंकि—ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये अन्य प्रमाणके साथ उसका सम्बन्ध समझमें नहीं आता (सम्बन्धज्ञानके विना अनुमान नहीं होसकता, इस लिये ब्रह्मविज्ञानमें अनुमानप्रमाणकी कारणता नहीं है) इन्द्रियें स्वभावसे बहिर्विषय हैं (वे बाहरकी वस्तुओंको ही ग्रहण कर सकती हैं, भीतर क्या है, उसको देखनेकी उनमें शक्ति ही नहीं है । श्रुति कहती है "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" अर्थात् स्वयम्भूने इन्द्रियों को बाहरी विषयोंमें जाने वाली रचा है, इस लिये जीव बाहरी विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं देखता, इस लिये) सर्वान्तरतम ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय वा ग्राह्य नहीं है।

ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय होय तब ही यह जगत् ब्रह्मके साथ संबद्ध कार्य है ऐसा समझा जाय, परन्तु यह जगत् कार्यमात्र है इतना ही समझाजाता है, इससे वह ब्रह्मके साथ संबद्ध है या किसी औरके साथ संबद्ध है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता (सूक्ष्मविचार करके देखो जब ब्रह्म इन्द्रियोंका अविषय वा अग्राह्य है अर्थात् इन्द्रियें जब ब्रह्मके स्वरूपको देख ही नहीं पातीं तो अवश्य ही मानना होगा, कि दृष्ट वस्तुमें ब्रह्मका संबन्ध होते हुए भी वह इन्द्रियोंके द्वारा दृष्ट वा अनुभूत नहीं होता, इन्द्रियें केवल कार्यभागको देखती हैं, उसका कारणभाग क्या उसको नहीं देखपातीं, इसलिये किसी कार्यवस्तु वा जन्यपदार्थको देखने पर वह ब्रह्मसे सम्बन्ध रखता है अथवा किसी और कारणसे सम्बन्ध रखता है, इसका निर्णय नहीं होता अर्थात् अनुमानके द्वारा जानने में नहीं आता। जहाँ धूमसे अग्निका अनुमान होता है तहाँ धूम और अग्नि दोनों ही इन्द्रियग्राह्य होते हैं, इस लिये धूम को देख कर यह समझ लिया जाता है, कि–धूमके साथ अग्निका जन्यजनक सम्बन्ध है और पहाड़ पर धूम है तो अग्नि भी अवश्य है, परन्तु ब्रह्मविज्ञानके स्थलमें ब्रह्मके इन्द्रियग्राह्य न होनेसे ऐसे विज्ञानकी सम्भावना नहीं है अर्थात् अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं होसकती)। [तस्मात्···प्रदर्शनार्थम्] इस लिये जन्मादिसूत्र अनुमानके विचारके लिये नहीं है। यदि कहो, कि–तो फिर किस लिये है ? इसका उत्तर यह है, कि वेदान्तवाक्योंकी मीमांसाके लिये है अर्थात् ब्रह्मके लक्षणरूपसे विचार करानेवाला कौनसा वाक्य है यह दिखानेके लिये है।

(भाष्य)-किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् । "भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति" इत्युपक्रम्याह-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति" (तैत्ति० ३ । १) तस्य च निर्णयवाक्यम्-"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" (तैत्ति० ३ । ६) अन्यान्यप्येवं जातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्त्तव्यानि ॥ २ ॥

(अनुवाद)-[किं···पितम्] (शिष्यने कहा, कि-) वह वेदान्तवाक्य कौनसा है, कि-जिसको यहाँ सूत्रने अपना लक्ष्य करना चाहा है ? [भृगु···विशन्तीति] (गुरुने उत्तर दिया, कि—हे तात ! सूत्रने जिस श्रुतिका अनुसरण किया है, उसको प्रसङ्गके साथ कहता हूँ, सुन-) "भृगु नामक वरुणका पुत्र था, वह अपने पिता वरुणके पास जाकर कहने लगा, कि-हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये" ऐसा आरम्भ करके कहते हैं (अर्थात् उपनिषद् इस प्रसङ्गका यहाँसे आरम्भ किया है और इस सम्वादमें वरुणने भृगुको उत्तर दिया है) कि-"जिससे ये सब भूत (जन्मवान् जीव वा पदार्थ) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिससे जीवित रहते हैं और जिसकी ओरको जाते हैं और प्रलयकालमें जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, तू उसको ही विशेषरूपसे जानने

की इच्छा कर, वही ब्रह्म है" । इस प्रश्नोत्तरका जो निर्णय (सिद्धान्त) हुआ है वह यह वाक्य है-"ये सब भूत निश्चय आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं, जन्मे हुए जीव आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्तमें वे आनन्दमें ही जाकर प्रविष्ट वा लीन होजायँगे (यह वेदान्तवाक्य वा तैत्तिरीय उपनिषद्का ब्रह्मविज्ञान इस सूत्रका विषय है अर्थात् इसकी ही मीमांसाके लिये जन्मादि सूत्रकी प्रवृत्ति है। [अन्या... उदाहर्त्तव्यानि] नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है स्वभाव जिसका और सर्वज्ञ है स्वरूप जिसका ऐसा जो कारण ब्रह्म है, उसके विषयके ऐसे ही दूसरे वाक्योंका भी उदाहरण है लेना चाहिये (जैसे, कि-"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" जो सर्वज्ञ सबका ज्ञाता है । तथा "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" ब्रह्म विज्ञान स्वरूप और आनन्दस्वरूप है । इत्यादि) ॥ २ ॥

(भाष्य)-जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्यु पक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह—

(अनुवाद)-(पहिले सूत्रमें) "ब्रह्म जगत्का कारण है" ऐसा दिखाया वा सिद्धान्त किया है, इसीसे यह भी उप क्षेप (सूचित) किया है, कि-"ब्रह्म सर्वज्ञ है" (क्योंकि- ब्रह्म जब सब जगत्का कारण है तो वह अवश्य ही सब जगत्को जानता भी है, इस लिये सर्वज्ञ है) इस अर्थको ही (शास्त्र और युक्तिके द्वारा) दृढ़ करते हुए (महर्षि व्यास देव) कहते हैं (अगले सूत्रका उपदेश करते हैं) ।

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

(सूत्रार्थ)-शास्त्रस्य ऋग्वेदादेर्योनिः कारणम् । शास्त्रयोनित्वात्-शास्त्रकारणत्वात्, हेतोः सर्वज्ञं ब्रह्म । अथवा शास्त्रमेव योनिः-कारणं-उपायोऽस्य स्वरूपावगतौ । (शास्त्रयोनित्वात्) क्योंकि-वह ऋग्वेद आदि सर्वज्ञतुल्य महान् शास्त्र की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान है अथवा क्योंकि-शास्त्र ही जिसके स्वरूपको जाननेका एकमात्र उपाय है, इस लिये वह सर्वज्ञ है ।

(भाष्य)-महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके

(अनुवाद)-[महत...ब्रह्म] विद्याके अनेकों स्थानोंसे उपकृत, दीपककी समान सब अर्थोंका प्रकाश करनेमें समर्थ और सर्वज्ञतुल्य ऋग्वेद आदि महान् शास्त्रकी योनि (कारण-उद्भवस्थान) ब्रह्म है (तात्पर्य यह है, कि-ब्रह्मको जो सर्व-कारण और सर्वज्ञ कहा उसका अभिप्राय यह है, कि-भगवान् केवल इस लिये ही सर्वज्ञ नहीं हैं, कि-वह जगत्के जन्मादिके कारण हैं, किन्तु वह ऋग्वेद आदि महान् शास्त्रके भी उद्भवस्थान हैं, इससे भी उनकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। ऋग्वेदादिके महान् होने कारणका यह है, कि-वह चारों वर्ण चारों आश्रमों के गर्भाधानसे लेकर श्मशानगमन पर्यन्तके कर्त्तव्योंका, ब्रह्म

मुहूर्त्तसे लेकर शयनकाल तकके नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म की विधिका तथा ब्रह्मतत्त्वका शिष्योंको शासन करता है जिसका विषय इतना बड़ा है वह महान् है ही, केवल उपदेश विषयोंका ही महत्त्व नहीं है किंतु ऋग्वेदादिका स्वरूप भी बड़ा है, क्योंकि–वह अनेकों विद्या स्थानोंसे उपबृंहित है अर्थात् उसके साथ अङ्ग उपाङ्गरूप बहुतसी सामग्री है, जैसे कि "पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥" इस श्लोकमें विद्या और धर्मके चौदह स्थान गिनाये हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र, वेदके छः अङ्ग–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द, ज्योतिष और चार वेद। पुराण आदि दश विद्या स्थान हैं अर्थात् ज्ञानके हेतु हैं, इनसे ऋग्वेदादि शास्त्रका उपकार होता है–ये सब वेदके मन्तव्यको स्पष्ट करके दिखाते हैं, अतः ऋग्वेदादिका स्वरूप महान् है। ये ऋग्वेदादि शा[स्त्र] न देते हों ऐसे नहीं हैं, किन्तु दीपककी समान सकल अर्थों का स्पष्ट प्रकाश कर देते हैं। इस लिये ही ये सर्वकल्प हैं अचेतन होनेसे इनको सर्वज्ञ तो नहीं कहा जासकता, परन्तु सर्वज्ञकी समान हैं, सर्वज्ञको सब विषयोंका ज्ञान होता है और शास्त्र सब विषयोंका वर्णन करता है। इस लिये सर्वज्ञ की समान वा सर्वज्ञसे कुछ न्यून है। [नहि''' संभवोऽस्ति] ऐसे सर्वज्ञता आदि गुणयुक्त ऋग्वेद आदि जैसे शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञ ब्रह्मके सिवाय और किसी अल्पज्ञ) से नहीं होसकती। [यद्''' लोके] महान् अर्थसे भरा जो शास्त्र जिस विशिष्ट (असाधारण) पुरुषसे उत्पन्न होता है वह

विशिष्ट पुरुष उस शास्त्रसे अधिक ज्ञानयुक्त होता है, यह यह बात लोकमें प्रसिद्ध है, जैसे कि–जाननेयोग्य विषयका एकदेश है अर्थ जिसका ऐसा व्याकरण आदि पाणिनि आदिसे उत्पन्न हुआ अर्थात् पाणिनिके व्याकरणसे जितना ज्ञान प्राप्त होता है पाणिनि मुनिका ज्ञान उससे बहुत अधिक था (वक्ता कितने ही अर्थभरे वाक्यको कहे, परन्तु उसका ज्ञान उससे बहुत अधिक होता है, बहुतसी ऐसी असाधारण बातोंका वक्ताओंको होता है, कि–जिनको वे लेखमें ला ही नहीं सकते, इक्षु दूध और गुड़ आदिके मिठासके जो भेद हैं उनको क्या सरस्वती भी लिख कर बता सकती है ?)।

(भाष्य)–किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि–प्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" (बृह० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः । तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वञ्चेति । अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृत पूर्वसूत्रे–"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि ।

(अनुवाद)–[किमु···श्चेति] उस अनेकों शाखाओं के भेदोंसे अनेकों भागोंमें बढ़े हुए, देव, पशु, मनुष्य, वर्ण,

आश्रम आदि अनेकों विभागोंके हेतु, सकल ज्ञानके भण्डा ऋग्वेद आदि नाम वाले शास्त्रसमूहकी बिना ही प्रयत्न (जैसे कि-आँखका पलक मारनेमें श्रम नहीं पड़ता तैसे लीलान्यायसे (जैसे कोई खेल ही खेलमें कुछ रचडाले तैं लीलामात्रमें) पुरुषके श्वास लेनेकी समान जिस महा भूत (स्वतःसिद्ध-चिरनित्य-ब्रह्मरूप) कारणसे उत्पत्ति हुई है, उस महान् सत्ययोनिके निरतिशयसर्वज्ञ और स शक्तिमान् होनेके विषयमें कहना ही क्या है ? क्योंकि-"अ जो ऋग्वेद आदि हैं यह इस महान् भूत (सत्यस्वरूप ब्रह्म का श्वासमात्र है † इत्यादि श्रुति ऐसा ही कहती हैं

(टिप्पणी)-† "स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा वि निश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेद यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनि पदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैता सर्वाणि निश्वसितानि" बृह० २ । ४ । १० अर्थात् जि प्रकार गीला ईंधन डालकर जलाये हुए अग्निमेंसे अनेक प्रकारके धुएँ, चिनगारियें, अँगारे और प्रकाश आदि बा निकलते हैं, ऐसे ही अरी मैत्रेयि ! महान् सत्यस्वरूप प मात्माका यह निश्वसितरूप है अर्थात् जैसे बिना ही प्रयत्न जीवको श्वास आया करता है तैसे ही ऋग्वेद, यजुर्वे सामवेद, अथर्वाङ्गिरस् यह चार प्रकारका मन्त्रोंका समूह इतिहास (उर्वशी पुरूरवाका सम्वाद आदि 'उर्वशी हाप्सर इत्यादि ब्राह्मण), पुराण ('असद् वा अग्र आसीत् इत्यादि), विद्या (देवजनविद्या 'वेदः सोऽयम्' इत्यादि

[अथवा…इत्यभिप्रायः] अथवा जिसका स्वरूप पहले कह चुके हैं ऐसा ऋग्वेद आदि शास्त्र इस ब्रह्मके यथावत् स्वरूपको जाननेमें योनि कहिये कारण और प्रमाणरूप है। शास्त्ररूप प्रमाणसे ही यह जाननेमें आता है, कि–ब्रह्म जगत् के जन्म आदिका कारण है, यह (सूत्रका) अभिप्राय है। [शास्त्रं…इत्यादि] शास्त्रका उदाहरण पहले सूत्रमें दे ही चुके हैं, कि–"जिससे ये सकल भूत उत्पन्न हुए हैं" इत्यादि।

(भाष्य)–किमर्थं तर्हीदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। उच्यते–तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादिसूत्रेण केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशंक्येत तामाशङ्कां निवर्त्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति ॥ ३ ॥

(अनुवाद)–[किमर्थं…दर्शितम्] शिष्यने कहा, कि

उपनिषद् ('प्रियमित्येतदुपासीत' इत्यादि), श्लोक (ब्राह्मण मूलकमन्त्र 'तदेते श्लोकाः' इत्यादि), सूत्र (वेदमेंके वस्तुसंग्रहवाक्य, जैसे कि–'आत्मा इत्येवोपासीत' इत्यादि), अनुव्याख्यान (मन्त्रविवरण), और व्याख्यान (अर्थवाद) अथवा अनुव्याख्यान (मन्त्रसंग्रह वाक्योंका विवरण) और व्याख्यान (मन्त्रविवरण) ऐसे आठ प्रकारका ब्राह्मण है और मन्त्र तथा ब्राह्मणका ही ग्रहण किया है। नियत रचनावाले और विद्यमान ही वेदकी अभिव्यक्ति पुरुषके निःश्वासकी समान है, पुरुषकी बुद्धिके प्रयत्नसे नहीं है, इस लिये वेदके अनित्य और पौरुषेय होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

हे गुरो ! जब पहले सूत्रमें ही ऐसे शास्त्रका उदाहरण दे हुए सूत्रकारने "ब्रह्म शास्त्रका कारण है" यह बात दिखाई है, तो फिर इस सूत्रको (अलग) क्यों बनाया है ? [उच्यते] गुरुने कहा, कि—हे तात ! इसका कारण कहता हूँ सुन [तत्र'''त्वादिति] उस पहले सूत्रमें सूत्रके अक्षरोंने शास्त्र का नाम नहीं लिया है, इससे लोगोंके मनमें शङ्का उठ सकती है, कि जन्मादि सूत्रमें केवल अनुमानकी रीति ही दिखाई है, शास्त्रयोनित्व नहीं दिखाया है, ऐसी आशङ्काको निवारण करनेके लिये (और युक्तियुक्त अर्थको स्पष्ट करनेके लिये) "शास्त्र योनित्वात्" इस सूत्रको रचा है ॥ ३ ॥

(भाष्य)—कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते यावता "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् (जै० सूत्र १ । २ । १) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रिया विधिशेषत्वं, उपासनादि क्रियान्तविधानर्थत्वं वा नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति, प्रत्यक्षादि विषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः । तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अतएव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जै० सूत्र १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणाञ्च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् । न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्श

मन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा । न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः । तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम् । अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—

(अनुवाद)-[कथं ··· उच्यते] ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है अर्थात् ऋग्वेद आदि शास्त्रका प्रतिपाद्य है, यह तुम कैसे कहते हो अर्थात् ऐसा नहीं कह सकते? [यावता ··· अक्रियार्थत्वात्] क्योंकि—जैमिनिमुनिने अपने सूत्रमें दिखाया है, कि वेदमात्र क्रियाका प्रतिपादन करता है और जो वाक्य क्रियाका प्रतिपादन न करें वे निरर्थक हैं (अर्थात् शास्त्रका जो भाग विधिनिषेध रूपसे क्रियाका प्रतिपादन करता है वही सार्थक और प्रमाणरूप है, उसके अतिरिक्त अंश निरर्थक और अप्रमाण हैं) इस लिये वेदान्तवाक्य (उपनिषद्भाग) निरर्थक है, क्योंकि—वह क्रियाका प्रतिपादन नहीं करता है (यहाँ शंका होती है, कि—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा" वायु अतिक्षिप्र देवता है इत्यादि अर्थवादवाक्योंका धर्ममें प्रमाण है या नहीं ? क्योंकि—ऐसे वाक्योंमें धर्मकी कुछ प्रतीति न होनेसे क्रिया प्रतिपादकता नहीं है। इसके समाधानके लिये यह सूत्र है, कि—"विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" अर्थवादकी विधिवाक्योंके साथ एकवाक्यता होनेसे वे निरर्थक नहीं हैं, क्योंकि—अर्थवाद विधिवाक्योंकी स्तुतिके

लिये हैं, जैसे कि–"वायुर्वै क्षिप्रतमगामिनी देवता तद्देवतां कर्म क्षिप्रमेव फलं दास्यति" अर्थात्–वायु अत्यन्त शीघ्रगामिनी देवता है, उस देवताका कर्म शीघ्र ही फल देगा। इस विधिके स्तुतिपरक अर्थसे "वायव्यं पशुमालभेत" वायुदेवता के पशुका आलभन करे, इस विधिवाक्यकी एकवाक्यता होनेसे अर्थवाद सार्थक और सप्रमाण है, परन्तु वेदान्तवाक्य केवल अध्ययनविधिमें लिये गये हैं, इस लिये निरर्थक और अप्रमाण हैं) [कर्तृ···वा] अथवा वेदान्तवाक्योंमें कर्ता पुरुषका और द्रव्य देवता आदि का प्रकाश होता है, इस अभिप्रायको लेकर वेदान्तवाक्योंको कर्मविधिका शेष(अङ्ग) कह सकते हो अथवा उसको उपासना नामक अन्य एक प्रकारके कर्मकी विधिका प्रतिपादक कह सकते हो (अर्थात् मुमुक्षु पुरुषको अविद्यमान जो अपने ब्रह्मका अभेद उसका आरोप करके "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार उपासना करनी चाहिये, यह उपासनाविधि है, वेदान्तवाक्य इस उपासनाविधिके प्रतिपादक हैं, स्वतंत्ररूपसे कर्मबोधक व सिद्धवस्तुके प्रतिपादक नहीं हैं। यदि कहो, कि–श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मको छोड़कर जो श्रुतिप्रतिपादित नहीं है ऐसा कर्मपरत्व ब्रह्मको क्यों कहा जाय ? इस पर कहते हैं, कि· [नहि···वस्तुनः] वेदान्त परिनिष्ठित (परितः सब ओरसे निष्ठित-निश्चयेन स्थितम् निश्चयसे रहने वाला अर्थात् जिस को क्रियाकी अपेक्षा नहीं है उस स्वतः सिद्ध—नित्यसद् वस्तुका प्रतिपादन करे, यह बात हो नहीं सकती, क्योंकि परिनिष्ठित वस्तु प्रत्यक्षादिका विषय होती है, शास्त्रका

विषय नहीं होती (तात्पर्य यह है, कि—जो वस्तु प्रत्यक्ष-गम्य वा अनुमानगम्य होती है, उसको शास्त्र नहीं कहता। "अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्" जिसको कोई नहीं जानता, जो अन्य उपायसे जाना नहीं जा सकता, शास्त्र केवल उसका ही उपदेश देता है। जो है, स्वतःसिद्ध है वह अवश्य ही इन्द्रियग्राह्य होगा, इस लिये शास्त्र यदि ऐसी सिद्ध वस्तुका उपदेश करे तो वह निरर्थक है। वेदान्त यदि सिद्ध वस्तु अर्थात् नित्य सत् वस्तुके प्रतिपादनमें प्रवृत्त होगा तो वह अवश्य ही निरर्थक और प्रत्यक्ष आदिका अनुवादमात्र होगा) [तत्···भावात्] और उस परिनिष्ठित-सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करनेमें हेय (त्यागनेयोग्य) उपादेय (ग्रहण करने योग्य) से रहित होनेके कारण वेदान्त-शास्त्रमें पुरुषार्थका अभाव मानना होगा अर्थात् यह श्रोता पुरुषके किसी अर्थ का नहीं है यह स्वीकार करना पड़ेगा (तात्पर्य यह है, कि—विधि निषेधको बिना देखे अर्थात् क्या त्यागना होगा, क्या ग्रहण करना होगा, इसको बिना समझाये केवल 'अमुक' 'यह अमुक' 'वह हुआ था' ऐसे उदासीन वाक्योंसे कुछ फल नहीं निकलता, बात वृथा जाती है, क्योंकि--वह बात प्रवृत्ति निवृत्तिका साधक बाधक कुछ भी नहीं होती। ऐसी बातको मनुष्य सुनकर भी नहीं सुनता और कोई प्रयोजनसिद्ध न होनेके कारण उसकी उपेक्षा करदेता है, इस लिये ही कहते हैं, कि—वेदान्त यदि विधिनिषेधके बहिर्भूत है-केवल सिद्ध—वस्तु—मात्रका बोधक है तो अवश्य ही निरर्थक होगा, विवेकी उसकी उपेक्षा करेंगे और वह

प्रयोजनीय वा पुरुपार्थ नहीं हो सकता) [अत ···मुक्तम् इस कारण से ही "सोऽरोदीत्" वह रोया, इत्यादि वेदवाक्य निरर्थक न हों, इस लिये "विधिना त्वेकवाक्य त्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" विधिवाक्योंके साथ वेदान्त वाक्योंकी और अर्थवादवाक्योंकी एकवाक्यताके लिये† विधिवाक्योंकी स्तुति अर्थवादवाक्योंका और वेदान्तवाक्यों का प्रयोजन है, इस लिये वे सार्थक हैं। इस प्रकार स्तुत्य र्थक होनेसे 'सोऽरोदीत्', इत्यादि वाक्योंका सार्थकपना का है (तात्पर्य यह है, कि-सिद्धपदार्थके बोधक वेदवाक्योंकी सफलता दिखानेके लिये कहते हैं, कि-सिद्धवस्तुके ज्ञानसे कोई फल नहीं होता, इस लिये उसका यह अभिप्राय है, कि-"देवैर्निरुद्धः सोऽग्निररोदीत्" देवताओंका रोका हुआ वह अग्नि रोया। यह वाक्य, अश्रुसे चाँदी उत्पन्न हुई ऐसी उसकी निन्दाके द्वारा "बर्हिषि न देयम्" अग्निकर्ममें रजत नहीं देना चाहिये। इस सफल निषेधवाक्यका शेष (अङ्ग

(टिप्पणी)-† एकवाक्यता (अङ्गाङ्गिभावका संबन्ध) दो प्रकारकी होती है-पदैकवाक्यता और वाक्यैकवाक्यता, "सोऽ रोदीत्" इस अर्थवादसमुदायको पद मानकर विधिपदके साथ एकवाक्यता पदैक्यवाक्यता कहलाती है और "दर्शपौर्णमा साभ्यां स्वर्गकामो यजेत" स्वर्ग चाहने वाले पुरुषको दर्श और पौर्णमास यज्ञ करना चाहिये। इत्यादि वाक्योंकी "समिधो यजति" समिधाओंको होमता है। इत्यादि वाक्योंके साथ अङ्गाङ्गिभाव संबन्धसे जो एकवाक्यता होती है वह वाक्यैक वाक्यता कहलाती है।

है, ऐसे ही वेदान्तोंको भी विधिवाक्य आदिका शेष कहना चाहिये इस प्रकार विधिके साथ सब वेदवाक्योंकी एकवाक्यता अर्थात् एक अर्थकी प्रतिपादकताको स्वीकार करके यह सिद्धान्त निकलता है, कि–अन्य सब वेदवाक्य विधिवाक्यों के स्तुतिकर्त्ता हैं, उन वाक्योंका अर्थ विधिवाक्योंकी स्तुतिके सिवाय और कुछ नहीं है, इस सबका निचोड़ यह है, कि-अक्षरका अर्थ ही अर्थ नहीं है, किन्तु जो तात्पर्यके साथ संगत हो वही अर्थ है और उस अर्थमें ही उसका प्रामाण्य होता है। यदि कहो, कि–वेदान्तवाक्य मन्त्रकी समान स्वतंत्र हैं, अर्थवादकी समान विधिवाक्यके साथ उसकी एकवाक्यता करना ठीक नहीं है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं, कि–) [मन्त्राणां···मुक्तम्] वेदके 'इषे त्वा' में तुझे वत्सके लिये काटता हूँ मन्त्रभागका भी आक्षरिक अर्थमें ही प्रामाण्य नहीं है, किन्तु क्रिया और उसके साधक द्रव्य देवता आदि के प्रकाशक होनेसे उन सबका प्रामाण्य है, इस लिये वे मन्त्र कर्मसमवायी (क्रियाके साथ जुड़े हुए) हैं। यह बात जैमिनि मुनिने अपने मीमांसासूत्रोंमें कही है। [न···वा] इस लिये विधिवाक्योंके साथ संबन्धके विना किन्ही भी वेदवाक्योंकी सार्थकता न देखी ही है और न हो ही सकती है। (यदि कहो, कि—वेदान्तको अन्य विधिका शेष न मानकर वेदांतका ही अर्थ जो ब्रह्म उसमें ही विधिकी कल्पना करलो अर्थात् वेदान्त ब्रह्मरूपविधिका प्रतिपादन करता है, ऐसी कल्पना करलो, इस पर कहते हैं कि–[नच···विधेः] जो वस्तु परिनिष्ठित है–जो है वा नित्यसत् है उसके स्वरूपमें

विधि नहीं होसकती, क्योंकि-विधिका विषय क्रिया है विधि कर्त्तव्य विषयमें ही होसकती है-जो क्रिया नहीं ज सकता वह कभी विधिका विषय होता ही नहीं (जैसे, कि "अग्निहोत्रं जुहुयात्" अग्निहोत्रमें होम करे, "दध्ना जुहोति" दहीसे होम करता है । यहाँ विधान की हुई होमक्रियाके साधनरूपसे दहीका प्रयोग किया है, इस कारण दहीको सिद्ध वस्तु न मानकर साध्य मानना चाहिये इस लिये ही विधिके योग्य है, परन्तु निष्क्रिय- क्रियारहित ब्रह्म किसी भी प्रकार भी साध्य वा विधेय नहीं है) [तस्मात्...वेदान्ता नाम्] इस लिये कर्मसंबन्धी कर्त्ता देवता आदिके स्वरूपका प्रकाश करनेसे वेदान्त क्रियाविधिका शेष है (अर्थात् कर्म करने पर जैसे कर्त्ताकी और जैसे द्रव्य देवता आदिकी आवश्यकता होती है, वेदान्त केवल उसका ही उपदेश देते हैं और कुछ नहीं करता, इस लिये वेदान्त भी विधिका पोषक (अङ्ग) होनेसे ही प्रमाण है, स्वतन्त्ररूपसे प्रमाण नहीं है अर्थात् उसका आन्तरिक अर्थ प्रमाण नहीं है [अथ...परत्वम्] और यदि कहो, कि-प्रकरणान्तरका भय होनेसे (अर्थात् वेदका कर्मप्रकरण वा कर्मकाण्ड अलग है और ज्ञानप्रकरण वा ज्ञानकाण्ड अलग है, दोनों में एकार्थप्रतिपादकता नहीं होसकती, इस लिये प्रकरण भंगका दोष होजायगा, इस विचारके भयसे) इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जासकता, तो भी अपने वाक्यों की उपासना आदि कर्मपरक वेदान्त है (अर्थात् वेदान्तके मध्यमें जो उपासनाविधिका भाग है, उसको प्रधान मान

कर अन्य अंशोंको उसका ही पोषक वा अनुगत-अंग मानलो, तात्पर्य यह है, कि-उपासना नामक कर्मविशेष ही वेदान्त-शास्त्रका प्रतिपाद्य है, ब्रह्म वा ब्रह्मविज्ञान उसका मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है, ऐसा सिद्धान्त मानलो) [तस्मात्... उच्यते] इस लिये ब्रह्म शास्त्रयोनि-शास्त्र है प्रमाण जिसका ऐसा नहीं है (अर्थात् इन सब कारणोंसे वा इन सब युक्तियोंसे यह सिद्धान्त बैठता है, कि-ब्रह्म शास्त्रयोनि वा शास्त्रप्रमाणक नहीं है, केवल कर्म ही शास्त्रप्रमाणक है, और जो कुछ भी है वह सब कर्मका अंग वा कर्मपरक है) ऐसी शङ्का उठने पर (महामुनि व्यासजी उसको दूर करने के लिये) कहते हैं (चौथे सूत्रकी अवतारणा करते) हैं-

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

(सूत्रार्थ)-पूर्वपक्षनिरासार्थः-तुशब्दः। तत् ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकमेव। अत्र पूर्वपक्षः शङ्का वा न प्रसरतीत्यर्थः। कुतः ? समन्वयात्-तस्मिन्नेव ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यावगमात्। (तत्) वह ब्रह्म [शास्त्रप्रमाणकमेव] शास्त्ररूप प्रमाण वाला ही है (तु) इसमें शङ्का नहीं हो सकती (समन्वयात्) ठीक २ अन्वय होनेसे। अर्थात्-शास्त्ररूप प्रमाणसे ही ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, और उपायसे नहीं होती, इस विषयमें पूर्वपक्ष वा शङ्का करना निष्फल है, क्योंकि उसमें सकल वेदान्तोंका समन्वय अर्थात् तात्पर्यकी समाप्ति देखते हैं ॥ ४ ॥

(भाष्य)-तु-शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्त-

शास्त्रादेवावगम्यते । कथम्, समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदांतेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि ।–"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६ । २ । १) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐत० २ । १ । १ । १) "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृह० २।५।१९) "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि

(अनुवाद)–[तु···त्यर्थः] तु शब्द पूर्वपक्षके खण्डनके लिये है अर्थात् पीछे जो शङ्का की है, उसके निवारणके लिये ही इस चौथे सूत्रका आरंभ है । [तत्···गम्यते] सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका,कारण ब्रह्म वेदांत शास्त्रसे ही जाना जाता है [कथम्] किस प्रकार [समन्वयात्] समन्वयसे (अर्थात् अखंड ब्रह्म वेदांतसे उत्पन्न होने वाले सत्य ज्ञानका विषय है । वेदान्तके तात्पर्यका विषय है । उन वाक्योंसे प्रमेय–प्रमाके योग्य–सत्यज्ञानके योग्य है जैसे, कि–कर्मवाक्यसे धर्म प्रमेय है । तात्पर्यका निर्णय सात लिङ्गोंसे होता है । यथा–"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥" उपक्रम आरम्भ, उपसंहार–समाप्ति, अभ्यास–वार २ आवृत्ति अपूर्वता–दूसरे प्रमाणसे समझमें न आना, फल, अर्थवाद स्तुति या निन्दावाचक वाक्य, और उपपत्ति–युक्ति, ये सात तात्पर्यका निर्णय करनेमें लिङ्ग-हेतु हैं । अर्थात् उपक्रम आदि लिङ्गोंसे 'वेदान्तका अद्वितीय अखण्ड ब्रह्ममें तात्पर्य है,'

निर्णय होता है) [सर्वेषु···गतानि] (देखनेमें आता है, कि-) सब वेदान्तोंके प्रायः सब ही वाक्य तात्पर्यसे प्रायः इस ही (ब्रह्मपरक ही) अर्थका प्रतिपादन करते हुए संबद्ध हो रहे हैं। [सदेव···पुरस्तात्, इत्यादीनि] हे प्रियदर्शन ! यह सब जगत् उत्पत्तिसे पहले केवल सत्—अस्तितामात्र—अव्याकृत ब्रह्म ही था" "एक ही अद्वितीय है" "उत्पत्तिसे पूर्वकालमें यह एकमात्र आत्मा था" "यह जगत् वही ब्रह्म है, यह पहले भी था, आगे भी रहेगा, यह भीतर भी है, बाहर भी है अथवा इसका कोई कारण नहीं है इस लिये यह कार्य वा जन्य नहीं है, इसके भीतर और कुछ नहीं है अर्थात् यह एकरस है, उसके बाहर भी कुछ नहीं है अर्थात् उसके सिवाय और कुछ नहीं है, इस लिये अद्वितीय अर्थात् सजातीय विजातीयभेदरहित है" "यह आत्मा ब्रह्म है, यह सबके अनुभवमें आने वाला और सर्वत्र देदीप्यमान है" "यह सब ही ब्रह्म और अमृत है" इस प्रकार जगत्कारण ब्रह्मके बोधक और भी वाक्य हैं (छान्दोग्य उपनिषद्के छठे अध्यायमेंसे तात्पर्यका निर्णय कराने वाला उपक्रम दिखाते हैं, "सदेव सोम्य" इत्यादि अर्थात् उद्दालक पुत्रसे कहता है, कि—हे सोम्य ! हे प्रियदर्शन ! यह सब जगत् उत्पत्तिसे पहले अस्तितामात्र—है इतना ही कहने योग्य सूक्ष्म, निर्विशेष, एक, निरञ्जन, निरवयव, विज्ञानस्वरूप, जो सकल वेदान्तसे समझा जाता है ऐसा अबाधित ब्रह्म ही था अर्थात् ब्रह्मसे पृथक् जगत्की कुछ सत्ता नहीं थी। इसके आगे तहाँ उपसंहार दिखाया है—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" यह सब आत्म-

स्वरूप है। उपक्रम और उपसंहार एक ही है यह तात्प
लिङ्ग है। "तत्त्वमसि" यह नौ वार किया हुआ अभ्या
है। "रूप आदिसे रहित अद्वितीय ब्रह्म अन्य प्रमाणके यो
नहीं है" इससे अपूर्वता कही है। "अत्र वाव किल सत् सो
न निभालयसे" जैसे यहाँ ही जलमें दर्शनसे या स्पर्श
जाननेमें न आया हुआ लवण जीभसे जाना गया, ऐसे
यहाँ ही विद्यमान जगत्के मूलकारण सत्को अन्य उपाय
जानेगा अर्थात् संघातमें विद्यमान प्रत्यक् ब्रह्मको तू न
जानता है "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये
उसका अर्थात् जिसका अविद्यारूप बन्धन छूट गया है ऐ
आचार्यवान् पुरुषका उतना ही चिरकाल—सदात्मस्वरू
प्राप्तिसे पात है, कि—जितने काल मोक्ष नहीं पाता है, प
तत्काल ही सत्स्वरूप हो जायगा। इसमें ब्रह्मज्ञानसे फ
कहा है। जब तक विद्वान्का देहपात नहीं होता है तब त
का ही विलम्ब है देहपात होने पर विद्वान् ब्रह्म होजायगा
विदेहकैवल्य मुक्तिका अनुभव करेगा। "अनेन जीवेना
नानुप्रविश्य" यह अद्वितीय ज्ञानके लिये अर्थवाद है
"मृत्तिका आदिके दृष्टान्तसे प्रकृतिसे भिन्न विकार नहीं है
यह उपपत्ति कही है। ऐसे सात प्रकारके तात्पर्यके लि
व्यस्त वा समस्त हर एक वेदान्तमें देखनेमें आते हैं)

(भाष्य)—न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपवि
निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्त
श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरू
प्रतिपादनताऽवसीयते, "तत्केन कं पश्येत्" (बृ

२ । ४ । १३) इत्यादि क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः । न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः, "तत्त्वमसि" (छान्दो० ६ । ८ । ७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् । यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः । देवतादि-प्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि कश्चिद्विरोधः । नतु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं सम्भवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः । नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति येनोपासनादिविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत । यद्यप्यन्यत्र वेदान्तवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् । नचानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्य, येनान्यत्रदृष्टं निदर्शनमपेक्षेत । तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ।

(अनुवाद)-[नच···प्रसङ्गात्] इन सकल वेदान्तवाक्योंमें जो पद वा शब्द हैं, उन सबका विषय अर्थात् प्रतिपाद्य ब्रह्म है, यह बात निश्चितरूपसे ज्ञानगोचर वा स्थिर होजाने पर अन्य अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं है, (क्योंकि—अन्य अर्थकी कल्पना करनेमें) श्रुतहानि (श्रुति प्रतिपादित अर्थकी हानि) और अश्रुतकल्पना (जो श्रुतिमें

नहीं कहा है ऐसे अर्थकी कल्पना) का दोष आता है (
लिये वेदान्तोंका अर्थ क्रियापरक है, ऐसी कल्पना क
ठीक नहीं, क्योंकि—"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" शब्द
जो तात्पर्य होता है वही उसका अर्थ होता है, यह न्याय
यह जो कहा था, कि--कर्त्ता देवता आदिका प्रकाश करे
अर्थवादकी समान वेदान्त कर्त्ता आदिकी स्तुति करता
इस लिये क्रियाका अङ्ग है, इसका खण्डन करते हैं, कि
[न च···श्रुतेः] तिन वेदान्तके पदोंका तात्पर्य केवल
कर्त्ताके स्वरूपको प्रतिपादन करना है (कर्म कर्त्ता कर्मका
वा उपासनाके समयमें "अहं ब्रह्म-मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसे ब्र
भावसे परिपूर्ण होकर कर्म वा उपासना करे, केवल इ
ही उपदेश देते हैं, ब्रह्मात्मभावका बोध नहीं कराते हैं)
आगे पीछेका विचार करके देखने पर यह भी नहीं
सकते (वेदान्तवाक्य तो ज्ञानके द्वारा क्रिया और उ
साधनोंका नाश करने वाले हैं, क्योंकि—ब्रह्मविज्ञानके
तो कर्तृत्वका बोध ही नहीं रहता यह बात) "तत्-तत्र,
विद्याकालमें कौन-कर्त्ता किस साधनसे किसको देखे
इत्यादि श्रुतियोंमें क्रिया, कारक और फलका निराक
किया है। (पूर्वपक्षमें कहा गया है, कि-ब्रह्म सिद्ध
होनेके कारण अन्य प्रमाणसे जानने योग्य है, वेदका
नहीं है, इसका खण्डन करते हैं, कि) [न च···मानत्वा
यद्यपि ब्रह्मका स्वरूप सिद्ध वस्तु है, तो भी वह प्र
आदि प्रमाणका विषय नहीं है, क्योंकि-"तत्त्वमसि
ब्रह्म तू है" इस शास्त्रके विना (अन्य किसी प्रमाण

ब्रह्मस्वरूप समझमें नहीं आता। (पूर्वपक्षमें कहा गया है, कि–निष्फल होनेके कारण ब्रह्म वेदका अर्थ नहीं है, उसको ही दुहरा कर उसका खण्डन करते हैं, कि–[यत्तु···सिद्धेः] यह जो कहा था, कि–जिसमें न कुछ हेय–त्यागके योग्य हो और न उपादेय ग्रहण करनेके योग्य हो वह निरर्थक–निष्प्रयोजन होता है (और निष्प्रयोजन होनेसे पुरुषार्थशून्य होता है) यह बात ठीक है, परन्तु यहाँ (आत्मविज्ञानके स्थलमें) यह निरर्थकताका दोष नहीं आसकता, क्योंकि–हेय और उपादेयसे रहित ब्रह्मस्वरूपको समझनेसे ही मनुष्यके सब क्लेशोंका नाश होकर पुरुषार्थ सिद्ध होजाता है (पूर्वपक्षमें यह जो कहा गया था, कि–वेदान्त उपासनापरक है, तहाँ हम बूझते हैं, कि–वेदान्तके कुछ वाक्य उपासनापरक हैं या सब ? यदि कहो, कि—कुछ तो इस बातको स्वीकार करते हुए कहते हैं, कि–) [देवता····संभवति] देवता आदिका प्रतिपादन तो स्ववाक्यगत उपासनाका शेष–अङ्ग रहे तो भी इसमें हमको कोई विरोध नहीं है (यदि कहो, कि–सब वेदान्तवाक्य उपासनापरक हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है विधिशून्य वेदान्तवाक्य, जैसे, कि–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म· ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तरूप है" इत्यादि वाक्य अपने अर्थको कहनेमें ही सफल हैं, इस लिये ऐसे वचनोंको उपासनापरक माननेकी कल्पना करना ठीक नहीं है, इसलिये) तिस प्रकार (प्राण आदि देवताकी समान) ब्रह्म उपासना विधिका अङ्ग नहीं होसकता, क्योंकि–[एकत्वे···उपपत्तेः] ("अहं ब्रह्मास्मि–मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार) एकत्व

का ज्ञान होते ही न कुछ हेय रहता है, न कुछ उपादेय रह
है, क्रिया कारक कर्त्ता आदि सब प्रकारके द्वैतज्ञानका ना
होजाता है (द्वैतज्ञानरूप कारणका नाश होजानेसे उपास
उपासक आदि किसी प्रकारका भेद रहता ही नहीं, इसलि
ब्रह्म उपासनाका अङ्ग नहीं होसकता। यदि कहो, कि
संस्कारबलसे फिर द्वैतज्ञानका उदय होजायगा तब वि
आदि सब प्राप्त होजायगी, तो इसके उत्तरमें कहते हैं, कि
[नहि···पद्यते] वास्तविक एकत्वज्ञान एक वार हुआ, फि
उसके द्वारा जो द्वैतज्ञानकी जड़ उखड़ी, कि–फिर कि
समय भी उसका उदय नहीं होसकता, कि–जिसके द्वा
ब्रह्मको उपासनाविधिका अङ्ग कहा जासके (यदि संस्क
वश द्वैतज्ञान उभर भी आवे तो उसको भ्रान्तिरूप निश्च
किया गया है, इस लिये उससे विधि आदिका अवसर न
आसकता, कि जिससे द्वैतज्ञान उपासनामें कारण हो
[यद्यपि···स्यातुम्] यद्यपि अन्य स्थलमें (कर्मकाण्ड
कहे हुए अर्थवाद आदि वेदवाक्योंमें) विधिके साथ संब
हुए विना उन वेदवाक्योंकी प्रमाणता देखनेमें नहीं आ
(अर्थात् विधिवाक्योंके साथ विना मिलाये उन वाक्यों
अपने अर्थमें सार्थकता नहीं होती है, निष्फलता ही र
है) तो भी आत्मविज्ञानके फलपर्यन्त होनेके कारण उस
प्रतिपादन करने वाले शास्त्रके प्रमाणत्वका निराकरण न
किया जासकता (तात्पर्य यह है, कि–ब्रह्मात्मतत्त्वको प्र
शित करने वाले वेदान्तवाक्य अप्रमाण नहीं होसकते, कि
उनको प्रमाणरूप ही देखागया है। आत्मविज्ञान जब फ

पर्यन्त है-जब आत्मज्ञान होते ही सकल दुःखोंकी निवृत्तिरूप मोक्षफल होते देखते हैं तो उस विषयके स्वाधीन शास्त्रका प्रमाणत्व नहीं है, यह बातें नहीं कह सकते)[न च···पेक्षते] इस वेदान्तशास्त्रका प्रामाण्य अनुमानके भरोसे पर नहीं है, कि—जिसमें उदाहरण आदि समझा कर दिखाना पड़े (चक्षु आदि के ज्ञानकी समान वेदके प्रामाण्यका ज्ञान स्वयं ही होता है, क्योंकि—फल पर्यन्त शास्त्रका प्रमाण फलके द्वारा ही निश्चित होता है, उसमें अनुमान आदि की अपेक्षा नहीं होती है) [तस्मात्···प्रमाणकत्वम्] इस लिये ब्रह्म केवल शास्त्रप्रमाणक है (शास्त्रसे जाना जाता है, अनुमान आदि प्रमाणोंसे नहीं जाना जाता है) यह बात सिद्ध होगयी

(भाष्य)- अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते, यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत् । कुत एतत्, प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य । तथा हि, शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—"दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्" इति । "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्" । "तस्य ज्ञानमुपदेशः" (जै० १ । १ । ५) "तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः" जै० १ । १ । २५) आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (जै० १ । २ । १) इति च । अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्त्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्त्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्, तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम् । तत्सामान्याद्वेदा-

न्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे
यथास्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयते,ए
ममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयते इति युक्तम्।

(अनुवाद)–[अत्र···तिष्ठन्ते] इस ब्रह्मके शास्त्रप्रमाण
कत्वके विषयमें दूसरे सम्प्रदाय वाले (मीमांसक) इसप्रका
पूर्वपक्ष करते हैं, कि–[यद्यपि···समर्प्यते] यद्यपि ब्रह्म शास्त्र
रूप प्रमाणका प्रमेय है, रहै, तथापि प्रधान विधिविषय
उपासनापरत्वसे ही शास्त्र ब्रह्मका समर्पण करता है (वेदां
शास्त्र उसका स्वतन्त्ररूपसे समर्पण वा प्रतिपादन नहीं कर
है, किन्तु प्रधान कर्मविधिके वा उपासनाविधिके अङ्गरूप
ही उसका प्रतिपादन करता है) [यथा···तद्वत्] जैसे अलौ
किक भी यूप आहवनीय आदिका बोध क्रियापरत्वसे
शास्त्र करता है, तैसे, (तात्पर्य यह है, कि यूप और आ
वनीय आदि लोकव्यवहारमें न आनेसे अलौकिक हैं, पर
शास्त्रीय व्यवहारमें आते हैं अर्थात् शास्त्रको विनापढ़े
वस्तुएँ जाननेमें नहीं आतीं शास्त्रने इन सबको कर्म विधि
अङ्ग कहा है, यदि ये कर्मका अंग न होतीं तो शास्त्र इन
कभी कहता ही नहीं, इससे कहना पड़ता है, कि—सि
वस्तुएँ वा प्रत्यक्ष अनुमान आदिके योग्य सकल पदार्थ
के अंगरूप मानकर ही कहे गये हैं। शास्त्रमें विधि है, कि
"यूपे पशुं बध्नाति" यज्ञस्तम्भमें पशुको बाँधे यहाँ आकां
होती है, कि यूप क्या पदार्थ है ? तो शास्त्र ही बताता है
"यूपं तक्षत्यष्टास्रीकरोति" काठको छीलकर अठकोना बना
जाता है यह यूप कहलाता है। ऐसे ही शास्त्रमें विधि है

"आहवनीये जुहोति" आहवनीय अग्निमें होम करता है। यहाँ आकांक्षा होती है, कि–आहवनीय अग्नि कौनसा है? तो शास्त्र ही बताता है, कि–"अग्नीनादधीत" अग्निका आधान करे-गृहपति घरमें संस्कारपूर्वक अग्निकी स्थापना कर के उसमें नित्य हवन किया करता है,यह अग्नि गार्हपत्य कहलाता है "गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तमुद्धरेत्" गार्हपत्यमेंसे यज्ञादि कर्मके लिये जो प्रज्वलित अग्नि लिया जाता है वह आहवनीय कहलाता है, यह सब विधिपरक वाक्योंसे ज्ञात होता है। ऐसे ही ब्रह्म भी उपासनाविधिके अथवा कर्मकांड-बोधक विधिके अङ्गभावको प्राप्त वेदान्तशास्त्रके द्वारा कर्म-कर्त्ताके ज्ञानगोचर होता है। शास्त्र कहता है "उपासना करने वाला ब्रह्मको जाने" यहाँ आकांक्षा होती है, कि-ब्रह्म क्या पदार्थ है? वेदान्त उसका उत्तर देता है, कि–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्तरूप है) [कुत एतत्] यह बात कैसे कहते हो? [प्रवृत्ति...शास्त्रस्य] इस कारण से कहते हैं, कि-प्रवृत्ति वा निवृत्ति इन दोनोंमेंसे किसी एक मार्गमेंको लेजाना शास्त्रका प्रयोजन है(तात्पर्य यह है, कि-शास्त्रमें शास्त्रके तात्पर्यके निश्चयको वृद्धोंके व्यवहारसे किया जाता है, वृद्धोंके व्यवहारको देखते हैं तो मालूम पड़ता है, कि-आप्तपुरुष श्रोताकी प्रवृत्ति वा निवृत्तिको लेकर ही उपदेश देते हैं। विद्वानोंका कथन है,कि–प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा शास्त्रेन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥" नित्य या अनित्य वस्तुके लिये पुरुषोंकी प्रवृत्ति वा निवृत्ति का जो उपदेश करे वही शास्त्र कहलाता है, केवल ज्ञान वा

केवल वस्तुके स्वरूपको बताना शास्त्रका काम नहीं है और यह प्रवृत्ति वा निवृत्ति भी कार्यके ज्ञानसे उत्पन्न होती है इस लिये शास्त्र कार्यपरक है और ब्रह्म भी कार्यशेष-क्रिया का अंग है, इस पर वृद्धोंकी संमति कहते हैं, [तथाहि-अनुक्रमणम्] ऐसा ही शास्त्रके तात्पर्यको जानने वालोंने कहा है। (वेदका अर्थ क्या है? इस विषय पर मीमांसा-दर्शनके भाष्यकार शबरस्वामी कहतेहैं) [दृष्टो···इति,च] वेदका अर्थ—क्रियाविषयक ज्ञानको उत्पन्न करना ही देखागया है (अर्थात् शास्त्र केवल क्रियाका ही उपदेश करता है, निष्क्रियताका उपदेश नहीं करता है) क्रियाके प्रवर्त्तक वाक्यका नाम तो 'चोदना' है (जैमिनिने धर्मका लक्षण किया है "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" चोदना है लक्षण जिस का ऐसा अर्थ ही धर्म है। इस चोदना शब्दका अर्थ करते हुए शबर स्वामीने कहा है, कि—चोदना, चोदकवाक्य, धर्म-प्रवृत्तिजनक वेदवाक्य और विधिवाक्य इन सबका एक ही अर्थ है, अभिप्राय यह है, कि—जिस वाक्यसे क्रियाका ज्ञान नहीं होता, धर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, उस वाक्यका आव-रिक अर्थ ग्रहण नहीं किया जासकता। शबर स्वामीकी संमति दिखाकर अब जैमिनि मुनिकी सम्मति दिखाते हैं- तिस क्रिया वा धर्मका जो ज्ञान उत्पन्न करावे वही उपदेश है (अर्थात् धर्मका ज्ञापक विधिवाक्य ही उपदेश है और सब अनुवादमात्र हैं, इस लिये) वेदमेंके सब सिद्ध पदोंका क्रियावाचक विधिवाक्यके साथ ही उच्चारण वा अन्वय करना चाहिये। तात्पर्य यह है,कि—वेदमें जितनी सिद्ध वस्तुएँ कही

वे सब ही क्रियाका अङ्ग हैं और क्रियाके लिये ही उन सबका उल्लेख है, इस लिये वे सब अनुवादमात्र हैं, मुख्य उपदेश या अज्ञातज्ञापक वाक्य नहीं हैं) क्योंकि-क्रिया ही आम्नाय अर्थात् वेदका अर्थ है, इस लिये जिनका अर्थ क्रिया नहीं है वे वाक्य अनर्थक हैं-उनका वह अर्थ ही नहीं है (अर्थात् उनके यथाश्रुत आक्षरिक अर्थको छोड़ कर तात्पर्यार्थ लेना चाहिये) [अतः'''स्यात्] इस लिये शास्त्र अधिकारी पुरुषको किसी विषयमें प्रवृत्ति कराता हुआ और किसी विषयसे निवृत्ति कराता हुआ सार्थक है (अर्थात् विधि-निषेधवाक्य ही मुख्य शास्त्र हैं) और सब वाक्य उसके अङ्गरूप होकर उपयोगी हैं (अन्यथा सामर्थ्यहीन हैं, यदि कहो, कि-) कर्मशास्त्रके साथ वेदान्तका सादृश्य है (क्यों कि-जैसे कर्मशास्त्र शास्त्र है तैसे ही वेदान्तशास्त्र भी शास्त्र है, इस लिये) वेदान्तवाक्योंकी भी तैसे ही (कार्यपरक होनेसे ही) सार्थकता हो जायगी (अर्थात् वेदान्तका अर्थ भी क्रियापरक ही होजायगा, परन्तु वेदान्तवाक्योंमें विधेय तो दीखता नहीं, फिर उससे क्रियाका ज्ञान कैसे होगा ? इस पर कहते हैं, कि-) [सति'''युक्तम्] वेदान्तशास्त्रके विधिपरक होजाने पर (वेदांतका अर्थ भी विधि ही है ऐसा निश्चित होजाने पर) जैसे (कर्मकाण्डमें) स्वर्गादिकी कामना वालेके लिये उसके साधन अग्निहोत्र आदिका विधान है, ऐसे ही (वेदान्तशास्त्रमें भी) अमृतत्व (मुक्ति) की कामना वालेके लिये ब्रह्मज्ञानका विधान है, यह मान लेना ठीक है ।

केवल वस्तुके स्वरूपको बताना शास्त्रका काम नहीं है और यह प्रवृत्ति वा निवृत्ति भी कार्यके ज्ञानसे उत्पन्न होती है इस लिये शास्त्र कार्यपरक है और ब्रह्म भी कार्यशेष—क्रिया का अंग है, इस पर वृद्धोंकी संमति कहते हैं, [तथाहि-अनुक्रमणम्] ऐसा ही शास्त्रके तात्पर्यको जानने वालोंने कहा है। (वेदका अर्थ क्या है? इस विषय पर मीमांसा-दर्शनके भाष्यकार शबरस्वामी कहतेहैं) [दृष्टो···इति,च] वेदका अर्थ—क्रियाविषयक ज्ञानको उत्पन्न करना ही देखागया है (अर्थात् शास्त्र केवल क्रियाका ही उपदेश करता है, निष्क्रियताका उपदेश नहीं करता है) क्रियाके प्रवर्तक वाक्यका नाम तो 'चोदना' है (जैमिनिने धर्मका लक्षण किया है "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" चोदना है लक्षण जिस का ऐसा अर्थ ही धर्म है। इस चोदना शब्दका अर्थ करते हुए शबर स्वामीने कहा है, कि—चोदना, चोदकवाक्य, धर्म प्रवृत्तिजनक वेदवाक्य और विधिवाक्य इन सबका एक ही अर्थ है, अभिप्राय यह है, कि—जिस वाक्यसे क्रियाका ज्ञान नहीं होता, धर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती, उस वाक्यका आक्ष-रिक अर्थ ग्रहण नहीं किया जासकता। शबर स्वामीकी संमति दिखाकर अब जैमिनि मुनिकी सम्मति दिखाते हैं- तिस क्रिया वा धर्मका जो ज्ञान उत्पन्न करावे वही उपदेश है (अर्थात् धर्मका ज्ञापक विधिवाक्य ही उपदेश है और सब अनुवादमात्र है, इस लिये) वेदमेंके सब सिद्ध पदोंका क्रियावाचक विधिवाक्यके साथ ही उच्चारण वा अन्वय करना चाहिये। तात्पर्य यह है, कि—वेदमें जितनी सिद्ध वस्तुएँ कही

वे सब ही क्रियाका अङ्ग हैं और क्रियाके लिये ही उन सबका उल्लेख है, इस लिये वे सब अनुवादमात्र हैं, मुख्य उपदेश वा अज्ञातज्ञापक वाक्य नहीं हैं) क्योंकि–क्रिया ही आम्नाय अर्थात् वेदका अर्थ है, इस लिये जिनका अर्थ क्रिया नहीं है वे वाक्य अनर्थक हैं–उनका वह अर्थ ही नहीं है (अर्थात् उनके यथाश्रुत आक्षरिक अर्थको छोड़ कर तात्पर्यार्थ लेना चाहिये) [अतः···स्यात्] इस लिये शास्त्र अधिकारी पुरुषको किसी विषयमें प्रवृत्ति कराता हुआ और किसी विषयसे निवृत्ति कराता हुआ सार्थक है (अर्थात् विधि-निषेधवाक्य ही मुख्य शास्त्र हैं) और सब वाक्य उसके अङ्गरूप होकर उपयोगी हैं (अन्यथा सामर्थ्यहीन हैं, यदि कहो, कि–) कर्मशास्त्रके साथ वेदान्तका सादृश्य है (क्यों कि-जैसे कर्मशास्त्र शास्त्र है तैसे ही वेदान्तशास्त्र भी शास्त्र है, इस लिये) वेदान्तवाक्योंकी भी तैसे ही (कार्यपरक होनेसे ही) सार्थकता हो जायगी (अर्थात् वेदान्तका अर्थ भी क्रियापरक ही होजायगा, परन्तु वेदान्तवाक्योंमें विधेय तो दीखता नहीं, फिर उससे क्रियाका ज्ञान कैसे होगा ? इस पर कहते हैं, कि–) [सति···युक्तम्] वेदान्तशास्त्रके विधिपरक होजाने पर (वेदांतका अर्थ भी विधि ही है ऐसा निश्चित होजाने पर) जैसे (कर्मकाण्डमें) स्वर्गादिकी कामना वालेके लिये उसके साधन अग्निहोत्र आदिका विधान है, ऐसे ही (वेदान्तशास्त्रमें भी) अमृतत्व (मुक्ति) की कामना वालेके लिये ब्रह्मज्ञानका विधान है, यह मान लेना ठीक है ।

(भाष्य)-ननिवह जिज्ञासावैलक्षण्यमुक्तम्-कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्य इह तु भूतं नित्यवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति । तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति । नार्हत्येवं भवितुम् । कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् । "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह० २।४।५) इति । "य आत्माऽपहतपाप्मा-सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० ८ । ७ । १) "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० १ । ४ । ७) "आत्मानमेव लोकमुपासीत" (बृ० १ । ४ । १५) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३ । २ । ९) इत्यादिविधानेषु सत्सु कोऽसावात्मा, किं तद्ब्रह्म, इत्याकांक्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः-"नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्येवमादयः । तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्त्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानाऽसम्भवात् सप्तद्वीपा वसुमती, राजाऽसौ गच्छतीत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् ।

(अनुवाद)-[ननु···मर्हति] परन्तु यहाँ जिज्ञास्य (जिज्ञासा-ज्ञान पानेकी इच्छाके योग्य पदार्थ) का भेद कहा है, कर्मकाण्डमें भव्य (साध्य-उत्पन्न होनेके योग्य) धर्म जिज्ञास्य है और यहाँ तो भूत (नित्यसिद्ध) नित्य निर्वृत्त (सदा सम्पन्न) ब्रह्म जिज्ञास्य है, इस प्रकार भेद

है। इनमें अनुष्ठानकी अपेक्षा रखने वाले धर्मज्ञानके फलसे ब्रह्मज्ञानका फल विलक्षण (जुदे ही प्रकारका) होना चाहिये (तात्पर्य यह है, कि–धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाके सूत्रकार जैमिनि और वेदव्यासने दोनों काण्डोंमें अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें अर्थभेद कहा है, क्योंकि–यदि एक ही अर्थ कहा हो तो जुदे २ शास्त्र बनाना निरर्थक होजाय। इस लिये दोनों काण्डोंके जुदे२ जिज्ञास्य–जाननेकी इच्छाके विषय होनेसे दोनों काण्डोंका फल भी विलक्षण भिन्न २ प्रकारका ही कहना चाहिये, अतः मुक्तिरूप फलके लिये ज्ञान विधेय नहीं होसकता, क्योंकि–मुक्ति यदि क्रियाजन्य होजाय तो कर्मफलसे उसमें कुछ विशेष भेद ही न रहे और जब मुक्तिफल और कर्मफलमें कुछ भेद न रहे तो दोनोंके जिज्ञास्यमें भी भेद बताना कठिन होजाय, इस लिये कर्मफलसे मुक्तिफलके भिन्न होनेके कारण नित्यसिद्ध मुक्तिके व्यञ्जक–दिखाने वाले ज्ञानको विधि मानना ठीक नहीं है, यह शङ्का होती है, इस पर कहते हैं, कि) [नार्हत्येवं भवितुम्] ऐसा नहीं होसकता [कार्य···मानत्वात्] क्योंकि–कार्यविधिमें प्रयुक्त हुआ ब्रह्म ही प्रतिपादन किया गया है (तात्पर्य यह है, कि–मुक्ति कर्मफलसे विलक्षण है, यह बात सिद्ध नहीं होसकती, इस कारण मुक्तिके लिये ज्ञान विधेय है, वेदान्तने ब्रह्मको कार्यविधिके अङ्गरूपसे ही वर्णन किया है, इस लिये ब्रह्म स्वतः असाध्य है तो भी विधेय–करने योग्य क्रियाके द्वारा साध्य है, इस लिये कर्मफलकी समान ब्रह्मज्ञान फल भी नियोगसाध्य–विधि वा क्रियासे होने

वाला है, इस लिये फलमें भेद नहीं है और विधिपर होना तुल्य है। ब्रह्मविधिपरक कैसे है, उसको स्पष्ट कर दिखाते हैं) [आत्मा···एवमादयः] "अरे मैत्रेयी ! आत्मा दर्शन करने योग्य है" "जो आत्मा निष्पाप है उसका अन्वेषण करना चाहिये (उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये)" "आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसी ही उपासना करनी चाहिये" "आत्माको ही स्वलोकज्ञानस्वरूप मानकर अथवा यह लोक आत्मा है और आत्मा ही यह लोक है, ऐसा मानकर उपासना करनी चाहिये" "जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होजाता है" इत्यादि विधान वा विधि वाक्य विद्यमान हैं, इस लिये "यह आत्मा कौन है और वह ब्रह्म क्या है" ऐसी आकांक्षा होने पर ब्रह्मके स्वरूपका बोध करानेमें सकल वेदान्तके वाक्य उपयोगी हैं। "ब्रह्म नित्य सर्वव्यापक, नित्यतृप्त, नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है" इत्यादि और भी बहुतसे वाक्य हैं (वे सब ही आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये तिन पदार्थोंके स्वरूपका बोधनमात्र करते हैं और कुछ नहीं करते हैं। अब इस विधिके फल को दिखाते हैं, कि-[तदु···भविष्यति] उसकी उपासनासे शास्त्रसे जाना हुआ तथा (अन्य प्रमाणसे) जाननेमें न आया हुआ मोक्षरूप फल होगा (तात्पर्य यह है, कि—प्रत्यक् ब्रह्मकी उपासनासे ब्रह्मका ज्ञाता ... स्थान पाता है, इस प्रकार शास्त्रमें कहा हुआ मोक्ष, जो कि स्वर्गकी समान लोकमें अप्रसिद्ध है, वह फल प्राप्त होता है। :अब ब्रह्मको कर्त्तव्य उपासनाविधिका अङ्ग न माननेसे ...

बाधा उपस्थित होती है,उसको दिखाते हैं,कि–)[कर्त्तव्य···स्यात्] यदि वेदान्तवाक्योंको कर्त्तव्यविधिका अङ्ग न मानें और यही मान लें, कि–वे वस्तुका कथनमात्र करते हैं तो हान (त्याग) और उपादान (ग्रहण) का संभव न होनेसे 'सात द्वीप वाली पृथिवी' 'यह राजा जाता है' इत्यादि वाक्यों की समान वेदान्तवाक्योंकी निरर्थकता ही होजाय (तात्पर्य यह है, कि—इस वेदान्तशास्त्रमें यदि कर्त्तव्यविधिका अनुप्रवेश न हो–क्रियाका सम्बन्ध न हो–ब्रह्म यदि उपासना-क्रियाका अङ्ग न हो–ब्रह्मके विषयमें यदि किसी प्रकारकी कर्त्तव्यताका प्रवेश न रहे तो केवल वस्तुके उपदेशका फल ही क्या ? जिस बात वा उपदेशको सुनने पर किसी प्रकार की त्यागबुद्धि वा ग्रहणबुद्धि न हो, वह बात वा उपदेश अवश्य ही व्यर्थ है। 'पृथिवी सात द्वीपों वाली है' 'राजा जारहा है' केवल ऐसे कहनेमात्रसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? ऐसी बात सुनने वा कहनेसे कुछ फल नहीं निकलता। ऐसा कहना जैसे निष्फल होता है, ऐसे ही यदि कर्त्तव्यज्ञानको उत्पन्न न करे–यदि विधिके साथ कोई संबंध न हो तो 'ब्रह्म सर्वज्ञ हैं' ऐसे२ वेदान्तवाक्य भी निष्फल वा निष्प्रयोजन हैं। यह सब कहनेका सार यह है, कि–सब सिद्धवस्तुएँ किसी क्रियाके अङ्ग वा आश्रयरूपसे कही जाती हैं। ब्रह्म यदि सिद्ध वस्तु है तो वह इस शास्त्रमें अवश्य ही उपासना क्रियाका अङ्ग वा अवलम्बरूपसे ग्रहण किया गया है और ऐसी उपासनामें मोक्षरूपफल उत्पन्न होता है)।

(भाष्य)–ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि रज्जुरियं, नायं

सर्प इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्त्तनेनार्थवत्त्वं दृ
तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनि
वर्त्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् । स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरू
श्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरू
श्रवणमात्रेण निवर्त्तेत न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि
यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, "श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० २ । ४ । ५) इति
च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्श
नात् । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं
ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति ।

(अनुवाद)-[ननु…स्यात्] परन्तु केवल वस्तुमात्र
उपदेश करने पर भी (उपदेश किये हुए वाक्यमें कर्त्तव्य
का ज्ञान उत्पन्न न होने पर भी) 'यह रज्जु है, यह स
नहीं है' इत्यादि उपदेशके वाक्योंसे भ्रान्तिसे उत्पन्न हु
भय कम्प आदि दूर होजाते हैं और ऐसा होनेसे इन वाक्यों
की सार्थकता देखनेमें आती है, ऐसे ही यहाँ भी असंसारी
आत्मवस्तुके कथनरूप वेदान्तवाक्यके द्वारा संसारीपनेकी
भ्रान्ति दूर होकर वेदान्तवाक्यकी सार्थकता होजायगी ।
[स्यादे…दर्शनात्] जैसा तुमने कहा यह ऐसा ही मान
जासकता था, यदि-जैसे रज्जुके स्वरूपको सुनने पर सर्पकी
भ्रान्ति दूर होजाती है, ऐसे ही ब्रह्मस्वरूपके श्रवणमात्रसे
संसारीपनेकी भ्रान्ति दूर होजाती, परन्तु निवृत्त नहीं होती
हम देखते हैं, कि—सैंकड़ों बार ब्रह्मतत्त्वको सुनकर भी
(लोगोंका संसारीपनेका भ्रम नहीं जाता और) पहलेकी

समान ही सुख दुःख आदि संसारके धर्म वर्तावमें आते हैं [श्रोतव्यो...मिति] "आत्मा श्रवण करने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य है" इस श्रुतिमें भी देखते हैं, कि-श्रवणसे आगेके समयोंमें मनन और निदिध्यासनका विधान है (यदि ज्ञानसे मुक्ति होती श्रवणजन्य ज्ञानके अनन्तर मनन आदिका विधान नहीं होता, परन्तु वह है) इस लिये विधिविषयके ज्ञानसे ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है, यह स्वीकार करना चाहिये (श्रवण आदिमें शब्दोंकी वा पदोंकी शक्ति क्रियाके साथ ही अन्वय पाती है,अतः श्रवण मनन आदि विधि है और वेदान्त क्रियापरक है, द्रव्य और देवता आदि जैसे क्रियाविधिके अङ्ग हैं, ऐसे ही ब्रह्म भी ज्ञानविधि वा उपासनाविधिका अङ्ग है। जैसे स्वर्गक्रिया साध्य हैं ऐसे ही मुक्ति भी क्रियासाध्य है, क्रियाके संबन्ध के विना केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती यह पूर्वपक्ष दूसरे करते हैं)।

(भाष्य)-अत्राभिधीयते-न। कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसञ्च कर्म श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं धर्माख्यं यद्विषया जिज्ञासा "अथातो धर्मजिज्ञासा" (जै० १।१।१) इति सूत्रिता। अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देह-

वस्तु सुखतारतम्यमनुभूयते । ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते । धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषाद् उत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यञ्च शास्त्रात् 'यावत्सम्पातमुषित्वा' (छा० ५ । १० । ५) इत्यस्माद्गम्यते । तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्त्तमानः । तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनाञ्च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम् । तथा च श्रुतिः—"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति । "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छा० ८ । १२ । १) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते । धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते । अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न, तस्य स्वाभाविकत्वात् । "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥"

(कठ० १ । २ । २१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" (मुण्ड० २ । १ । २) "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ० ४ । ३ । १५) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् ।

(अनुवाद)–[अत्राभिधीयते] इस सत्र पूर्वपक्षके विषय में अब हम उत्तर कहते हैं । [न···लक्षणात्] नहीं–ऐसा नहीं है (मुक्तिविधिजन्य नहीं है, वह आत्माका स्वरूप है, इस लिये सिद्ध है, साध्य नहीं है । मीमांसकों ने जो यह निर्णय किया है कि–शास्त्रमें मुमुक्षु पुरुषके लिये ज्ञानका विधान है, उसके ही अवलम्बके लिये ब्रह्मवस्तुका उपदेश है, यह कहना ठीक नहीं है) क्योंकि–कर्म और ब्रह्मविद्याके फलमें बहुत भिन्नता है [शारीरं··· मनुश्रूयते] यह कर्म–शारीरिक (शरीरसे होने वाला), वाचिक (वाणीसे होने वाला) और मानसिक (मनसे होने वाला) श्रुतियों और स्मृतियोंमें धर्म नामसे प्रसिद्ध है. कि–जिसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा "अथातो धर्मजिज्ञासा" (अब आगे धर्मकी जिज्ञासा होती है) इस सूत्रमें जैमिनि मुनिने वर्णन की है (अर्थात् इस सूत्रका जिज्ञास्य वा विचार करने योग्य विषय धर्म है, वह कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाविशेषके सिवाय और कुछ नहीं है) हिंसा आदि अधर्म भी निषेधके प्रेरक वाक्यका लक्ष्य होनेके कारण त्यागनेके लिये जिज्ञासाके योग्य हैं (अर्थात् धर्मकी समान अधर्म भी जिज्ञास्य है, वह भी इस सूत्रसे सूचित होता है, जैसे ग्रहण करनेके लिये धर्म विचार करनेके योग्य है, ऐसे

ही अधर्म भी छोड़नेके लिये विचारणीय है जैसे धर्म या दान आदिके विधानके अनुसार लक्षित होता है, ऐसे अधर्म भी हिंसा आदिके निषेधके द्वारा निर्णीत होता है, इस लिये शास्त्रका नियोग (कर और न कर ऐसी अनुमति दोनोंका ही लक्षण है, यह "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस सूत्रमें ही वर्णन किया है) उन दोनोंके, अर्थात् चोदना (विधिनिषेधकी प्रेरणा) जिनका लक्षण है ऐसे अर्थ और अनर्थनाशक धर्म और अधर्मके फल सुख और दुःख हैं, फलरूप सुख और दुःख सब जीवोंको प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि शरीर, वाणी और मनके द्वारा उनका उपभोग होता है, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उनका जन्म वा आविर्भाव होता है और ब्रह्मसे लेकर स्थावर पर्यन्त सब ही जीव सुखदुःखरूप फलको जानते हैं और शास्त्रमें भी सुननेमें आता है, कि-मनुष्यसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त शरीरधारियोंमें सुखकी न्यूनाधिकता होती है। [ततश्च ··· तम्यम्] सुखकी न्यूनाधिकता होनेसे ही उसके मूल कारण धर्मकी न्यूनाधिकता का भी अनुमान होता है। धर्मकी न्यूनाधिकतासे उसका अनुष्ठान करने वाले अधिकारी पुरुषके तारतम्यका (कि नानाप्रकारके अधिकारी होते हैं, इसका) अनुमान होता है। यह प्रसिद्ध है अर्थात् यह सब ही जानते हैं, कि फलकी कामना और सामर्थ्यके अनुसार कर्मके अधिकारीका भेद हुआ करता है (तात्पर्य यह है, कि-सबके सुख दुःख एकसे नहीं होते हैं, सब सब प्रकारका फल नहीं पाते, सब सब ही प्रकारका कर्मानुष्ठान नहीं कर सकते,

और सुख पदार्थ भी सबका समान नहीं होता, इच्छा होने पर भी सब मनुष्य सब फलोंको नहीं पा सकते, यह देखकर निश्चय होता है, कि–अधिकारी वा धर्माचरण करने वाले सब लोग एकसे नहीं होते हैं और वे जिस धर्माचरणको करते हैं वह भी एकसा नहीं होता है। सुख दुःख की न्यूनाधिकता ही अपने मूल कारण धर्म अधर्मकी न्यूनाधिकताका अनुमान कराती है। धर्म अधर्मकी न्यूनाधिकता ही अपना अनुष्ठान करने वाले मनुष्योंके भेदका अनुमान कराती है,सार यह है,कि-सर्वसाधारणका धर्माचरण एकसा नहीं होता और न सब लोग सब प्रकारका धर्मानुष्ठान कर ही सकते हैं) [तथा च'''प्रसिद्धम्] जैसे, कि–जो (ज्ञानपूर्वक) यज्ञ आदिका अनुष्ठान करते हैं–उपासना करते हैं, उनकी ही विद्या और चित्तकी स्थिरतारूप समाधिके प्रभाव से उत्तर मार्गसे गति होती है (उपासनामें चित्तको अत्यन्त स्थिर करलेने वाला अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाता है अर्थात् पहले सूर्यके तेजमें मिलता है और सूर्यलोकमें पहूँचता है, तहाँसे ब्रह्मलोकमें और ब्रह्मलोकके भोगके अनन्तर मुक्ति होजाती है, इस क्रमगतिका नाम-क्रम मुक्तिस्थानलाभ, उत्तर मार्गगति और देवयानगति वा अर्चिरादि गति है) केवल इष्ट. पूर्त और दत्तकर्मरूप साधनोंसे धूम आदिके क्रमसे दक्षिण मार्गके द्वारा (चन्द्रादिलोकमें) गमन होता है। (तात्पर्य यह है, कि–"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥" अग्निहोत्र, तपस्या, सत्यनिष्ठा, अभ्यासके द्वारा वेदोंकी रक्षा, अतिथिसेवा,

वलिकर्म अर्थात् सकल भूत और देवताओंके निमित्त अन्न दान करना, इसको इष्टकर्म कहते हैं। "वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥" सकल प्राणियोंके उपकारके लिये बावड़ी, कूप, तालाब खु़दवाना, देवमन्दिर बनवाना, अन्नके क्षेत्र लगाना, धर्मशाला बनवाकर सदाव्रत लगाना, बाग लगाना इसका नाम पूर्त्त है। "शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते॥" शरणमें आये हुए की रक्षा करना, प्राणियोंकी अहिंसा और वेदीके बाहर जो दान है वह दत्त कहलाता है। इस सब क्रिया में ज्ञान, समाधि या उपासनाका संबन्ध नहीं है, इस कारण इस कर्मको करने वाले दक्षिणमार्गसे जाते हैं और चन्द्रादि लोक वा स्वर्गलोकमें जाकर जन्म लेते हैं। स्वर्ग लोककी गतिका क्रम इस ग्रन्थमें आगे लिखा जायगा। स्वर्ग लोकवासी भोगके अन्तमें फिर मर्त्यलोकमें आवेंगे, यह श्रुति और युक्ति दोनों प्रमाणोंसे सिद्ध है) वहाँ भी (चन्द्रादि ऊर्ध्वलोकोंमें भी) सुखकी न्यूनाधिकता और उसके साधन कर्मोंका न्यूनाधिकत्व भी "यावत्कालमुषित्वा—वहाँ भी जब तक कर्मभोग है तब तक भी रहकर फिर लौट आता है" इत्यादि शास्त्रप्रमाणसे मालूम होता है (सर्वत्र ही सुख की न्यूनाधिकता है, इस लिये उसको प्राप्त कराने वाले कर्मों में भी तारतम्य-भेद है) ऐसे ही मनुष्यसे लेकर नरकमें रहने वाले और स्थावर पर्यन्त प्राणधारियोंमें जो न्यूनाधिक सुखलेश है वह चोदनालक्षण धर्मसे ही साध्य है, यह

मान होता है (तात्पर्य यह है, कि–मनुष्य आदि उच्च जीव, अधम नारकी जीव और उनसे भी अधम स्थावर जीव ये सब ही कुछ न कुछ थोड़े या बहुत सुखका अनुभव करते हैं उनका वह सुख वा वैसा सुखभोग वैधकर्म–धर्मके फलके सिवाय और कुछ नहीं है) ऐसे ही ऊर्ध्वलोकोंमें पहुँचे हुए और अधोलोकमें पहुँचे हुए ऊँचे और नीचे शरीरधारियोंमें दुःखकी न्यूनाधिकता देखने है, उनका यह दुःख वा वैसा दुःखभोग निषेधकी प्रेरणा करने वाले वाक्योंमें जिसको बताया है उस अधर्म (हिंसा आदि) के फलके सिवाय और कुछ नहीं है,इससे अनुमान होता है,कि-सुख दुःखमें भेद होनेसे-एकरूपता न होनेसे उसके मूलकारण धर्म अधर्म,अवश्य ही भिन्न २ प्रकारके हैं तथा धर्म अधर्ममें अनेकरूपता होनेके कारण उनका उपार्जन करने वाले उनके अधिकारी पुरुषोंमें भी भेद है। इस प्रकार ही अविद्या आदि (अविद्या, काम, कर्म, राग, द्वेष, अभिनि- वेश) दोषोंसे दूषित जीवोंके धर्म अधर्ममें भेद होनेके कारण ही उनके देहधारणमें और सुख दुःखके भोगमें भेद होता है। ऐसे विचित्र भेद भरे अनित्य सुख दुःखके भोगका नाम संसार है, यह बात श्रुति, स्मृति और युक्तिके आधार पर सर्वत्र प्रसिद्ध है। [तथा च ···अनुवदति] जैसी कि–श्रुति है–"शरीरधारी हुए आत्माके प्रिय अप्रियकी निवृत्ति नहीं है" इस प्रकार जैसा कि–कहा है, उसके अनुसार ही संसार के रूपको श्रुति फिर कहती है [अशरीरं···गम्यते] "प्रिय और अप्रिय–पुण्य और पाप—सुख और दुःख ये सब

अशरीरी (शरीराभिमान शून्य) हुए आत्माको स्पर्श नहीं करते हैं। इस प्रकार विदेह आत्माको प्रिय अप्रियके स्पर्शका निषेध होनेसे, अनुमान होता है, कि-मोक्ष नामक विदेह कैवल्य चोदनालक्षण धर्मका (विधिबोधित कर्मका) कार्य वा उत्पाद्य नहीं है। [धर्म···नोपपद्यते] मोक्ष वा विदेहावस्था धर्मका कार्य है ऐसा मानाजाय तो पूर्वोक्त प्रिय अप्रियके स्पर्शका निषेध-पुण्य पाप न लगनेकी बात असङ्गत हो जायगी। [अशरीरी···श्रुतिभ्यः] यदि कहो, कि-अशरीरीभाव ही धर्मका कार्य वा फल है-धर्मके द्वारा ही अशरीरता (मोक्ष) उत्पन्न होती है, तो ऐसा नहीं कह सकोगे, क्योंकि-अशरीरता स्वाभाविक-स्वतःसिद्ध है (वह उत्पन्न नहीं होती है, वह तो सर्वदा ही है अर्थात् यह अवस्था अनादि होनेके कारण कर्मसाध्य नहीं है) "धीर पुरुष शरीरोंमें अशरीर (स्थूलशरीरशून्य), बहुतसे अनित्य देहोंमें एक नित्य, महान् और विभु आत्माका (आत्मस्वरूपका) मनन करके शोक नहीं करता है (शोकयुक्त संसारका अनुभव नहीं करता है। (सूक्ष्मशरीरका अभाव दिखानेके लिये श्रुति कहती है, कि-) "प्राणरहित है (क्रियाशक्ति वा कर्मेन्द्रियोंके संबन्धसे रहित है), अमना है (ज्ञानशक्ति वा ज्ञानेन्द्रियोंके संबन्धसे रहित है), शुद्ध है (पाप पुण्यके पार है)" "यह पुरुष (आत्मा) असङ्ग है (किसी देहके सङ्गसे लिप्त नहीं होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे वह स्वाभाविक है (अर्थात् निर्लेप आत्मस्वरूप ही स्वतःसिद्ध मोक्ष है और वह अनादि है, सिद्ध होने पर भी उसके ज्ञानका अभाव है अर्थात् उसको

न जाननेसे ही अनेकों शंकायें उठती हैं और उसको जान लेने पर सब भ्रम दूर होजाते हैं) [अत···सिद्धम्] इस लिये आचरण करने योग्य कर्मका जो फल है उससे वेदांत-जिज्ञासाका मोक्षरूप फल विलक्षण—अत्यन्तभिन्न है और यह अशरीरावस्था नित्य है, यह बात सिद्ध होगयी।

(भाष्य)—तत्र किञ्चित् परिणामिनित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते। यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणः। इदन्तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः—स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्त्तेते, तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च" (क० २।१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अतस्तद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता। तद्यदि कर्त्तव्यशेषत्वेनोपादिश्येत, तेन च कर्त्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत, नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्येत, अतो न कर्त्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

(अनुवाद)-[तत्र···श्रुतिभ्यः] (यदि मोक्ष नित्य होगा तो भी परिणामिनित्य होनेसे धर्मकार्य होजायगा, क्योंकि—नित्य दो प्रकारका होता है कूटस्थनित्य और परि-

णामिनित्य) उस नित्य वस्तुमें यदि कुछ विकार आजाने पर भी 'यह वही है' ऐसी बुद्धिका नाश न होय तो वह परिणामिनित्य † कहलाता है। जैसे, कि-'जगत् नित्य है' ऐसा कहने वालोंके मतमें पृथिवी आदि और जैसे सांख्य के गुण (परिणामी पदार्थकी नित्यता प्रत्यभिज्ञा-÷से कल्पित होती है अर्थात् सादृश्यमूलक भ्रम होता है, इस

(टिप्पणी) †"पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकारप्रतिभासः परिणामः" पहले रूपका त्याग होकर अनेकों आकारोंका प्रतिभास परिणाम कहलाता है। उपजन-वृद्धि या अपाय युक्त अवस्था परिणाम कहलाती है। पृथिवी किसी समय तृण वृक्ष आदि अवस्थाको पाती है और तृणादिका नाश होने पर मृत्तिका आदिकी अवस्थाको पाती है। दोनों अवस्थाओंमें पृथिवी अनुस्यूत (पुई हुई) है, इस लिये वह परिणामिनित्य है। ऐसा ही सब परिणामिनित्य द्रव्योंमें समझना चाहिये। सत्त्व, रजस् और तमस् ये गुण हैं, ये प्रलयकालमें साम्य नामक प्रधान अवस्थामें होते हैं और सृष्टिकालमें गुणोंकी प्रधानताके अनुसार सुख दुःख और मोह आदि अवस्थाको प्राप्त होते हैं। दोनों अवस्थाओंमें गुण अनुस्यूत ही है।

÷पहचानना "स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः" यह वही घट है जो मुझे पहले मिला था, इसका नाम प्रतिभिज्ञा है। यह स्मृति और ज्ञानके समान है। स्मर्यमाण वस्तु उपस्थित होने पर प्रत्यभिज्ञा कहलाती है और अनुपस्थित होने पर स्मृति कहलाती है।

लिये वह नित्य प्रकृत वा परम नित्य नहीं होती है, मोक्ष नामक अशरीरत्व ऐसा नित्य नहीं है) किन्तु यह अशरीरत्व तो आत्माका वास्तविक स्वरूप और कूटस्थ नित्य है (कूटस्थ नित्य और निर्विकार नित्य एक ही बात है, क्यों कि–यह आकाशकी समान सर्वव्यापी, सब प्रकारके विकारों से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव और स्वयंज्योतिः स्वभाव अर्थात् स्वाधीनप्रकाशस्वरूप है, इस लिये इसमें धर्म और अधर्म अपने कार्यके साथ त्रिकालमें भी नहीं जासकते, वह हीमोक्ष नामक अशरीरत्व है जो कि–श्रुतियोंमें "धर्मातीत, अधर्मातीत, कार्यातीत, अकार्यातीत, भूत—भविष्यत् और वर्त्तमानरूप त्रिकालातीत" कहा गया है। [अतः ···स्यात्] इस कारण (कर्मफलसे विलक्षण होनेसे) वह (कैवल्य-मोक्ष) ब्रह्म है (मोक्ष ब्रह्मसे भिन्न नहीं है) अथवा जो जिज्ञास्य है वह ब्रह्म है, कि-जिसके विषयकी जिज्ञासा—विचारका इस शास्त्रमें आरम्भ किया गया है। वही जिज्ञास्य ब्रह्म यदि श्रुतिमें क्रियाके शेष—अङ्ग रूपसे उपदेश किया गया होय और उस क्रियाके द्वारा मोक्ष यदि साध्य माना जाय तो मोक्षतत्त्व अवश्य ही अनित्य होजाय (अतः···यहाँ जो जिज्ञास्य ब्रह्म है वह सर्वथा स्वतंत्र है और उसका ही वेदान्तवाक्योंने उपदेश किया है)। [तत्रैवं···प्रसज्येत] तहाँ ऐसा होने पर (अर्थात् ब्रह्म क्रियाका अङ्ग है और मोक्ष उस क्रियासे उत्पन्न होता है, ऐसा माननेमें यह प्रसङ्ग भी आपड़ता है, कि–न्यूनाधिकभावसे रहने वाले अनित्य कर्म फलोंमें ही मोक्ष एक प्रकारका अतिशय वा उत्कर्ष है

(उत्कृष्ट कर्मफल है) [नित्यश्च···भ्युपगम्यते] पर
सब ही मोक्षवादी 'मोक्ष नित्य है' ऐसा मानते हैं (उत्प
होने वाला नहीं मानते हैं) [अतो···युक्तः] इस लि
कर्म के अंगरूपसे ब्रह्मका उपदेश करना उचित नहीं
(और शास्त्रमें ऐसा उपदेश किया भी नहीं है)।

(भाष्य)–अपि च "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति
(मुण्ड० ३।२।६) "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मि
दृष्टे परावरे" (मुण्ड० २ । २ । ८) "आनन्दं ब्रह्म
विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै० २ । ६) "अभ
वै जनक प्राप्तोऽसि" (बृ० ४ । २ । ४) "तदात्म
नमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (
असनेपिब्राह्मणोप० १ । ४ । १०) "तत्र को मो
कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७) इत्य
माद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो म
कार्यान्तरं वारयन्ति । तथा "तद्धैतत्पश्यन् ऋषि
मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृ० १।४।१
इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्त्तव्यान्तरव
पायोदाहार्यम् । यथा तिष्ठन् गायतीति तिष्ठति
पत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्य
"त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परंपारं त
यसि" (प्र० ६ । ८) "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशे
स्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि
मा भगवाञ्छोकस्य परं पारं तारयतु" (छा०
१ । ३) "तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्श

भगवान् सनत्कुमारः" (छा० ७। २६। २) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्यायसूत्र १। १। २) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति। न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वं विज्ञानं संपद्रूपम्। यथा "अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति" (बृ० ३। १। ६) इति। न चाध्यासरूपम्। यथा "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३। १८। १) "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छा० ३। १९। १) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं "वायुर्वाव संवर्गः" "प्राणो वाव संवर्गः" (छा० ४।३।१) इति वत्। नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्। सम्पदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमसि" (छा० ६। ८। ७) "अहं ब्रह्माऽस्मि" (बृ० १४। १०) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० २। ५। १९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्यते। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (मुण्ड० २। २। ८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३। २। ९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि

प्रमदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् । तस्मान्न प्रमदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या, किं तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् ।

(अनुवाद)–[अपि···वारयन्ति] और देखो "ब्रह्मको जानने वाला पुरुष ब्रह्म ही होता है" पर और अवर-कारण और कार्यरूप उस परमात्माका दर्शन होने पर इस द्रष्टाके सकल कर्मफल (जिसके फलभोगका आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे अनारब्ध पापपुण्यकर्मोंके फल) क्षीण होजाते हैं" "ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको जानने वाला किसीसे भयभीत नहीं होता है (दूसरेके अभाववश निर्भय रहता है)" "हे जनक ! तू अभय (ब्रह्म) को पागया है "उस जीवने मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार आत्माको ही जाना" "तिस ज्ञानसे वह सर्वमय ब्रह्म हुआ" "तिस मोक्षकालमें या स्वरूपावस्थानके समय एकत्व देखने वालेके लिये क्या मोह और क्या शोक है अर्थात् उस समय कुछ भी नहीं होता" ऐसी २ श्रुतियें ब्रह्मज्ञानके अनन्तर मोक्षको दिखाती हुईं, मोक्षकालमें उस को और कोई काम नहीं होता है इस तत्त्वको ही प्रकट करती हैं । [तथा···गम्यते] तथा "वह ब्रह्म यह प्रत्यक् जीवस्वरूप मैं हूँ,इसप्रकार आत्मसाक्षात् करते हुए वामदेव ऋषि शुद्ध ब्रह्म होगये, उस ज्ञानमें वर्त्तमान ऋषिने अपने सर्वात्मभावको प्रकाशित करने वाले मन्त्र–मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ,

इत्यादि देखे" ऐसी श्रुतियें ब्रह्मदर्शनके अनन्तर सर्वात्मभाव की प्राप्तिके मध्यमें कार्यान्तरके निषेधके लिये उदाहरणरूपसे कहनी चाहियें। जैसे कि-खड़ा हुआ गाता है, इस खड़े रहने और गानेकी क्रियाके मध्यमें उस कर्त्ताको और कोई कार्य नहीं है, ऐसा अनुमान होता है। [त्वं हि···दर्शयन्ति] "तुम ही हमारे पिता हो जो हमें अविद्याके परले पार पहुँचा रहे हो अर्थात् भारद्वाज आदि छः ऋषियोंने पिप्पलादगुरुके चरणोंमें प्रणाम करके कहा, कि-आप हमारे सच्चे पिता हो जो आप हमें अविद्यारूप महासागरके पार, फिर लौटकर आना न पड़े इस प्रकार ब्रह्मविद्यारूप नौकाके द्वारा पहुँचा दोगे-अपने ज्ञानसे हमारे अज्ञानका नाश करोगे)" "आत्माको जानने वाला शोकके पार होजाता है, ऐसा मैंने भगवत्तुल्य ऋषियोंसे सुना है (देखा नहीं है) ऐसा (अज्ञानी) मैं हे भगवन्! शोक करता हूँ, ऐसे शोक करते हुए मुझको भगवान् (आप) ज्ञानरूप नौकासे शोकसागरके परले पार पहुँचा दीजिये" "नष्ट होगया है पाप जिनका ऐसे उन (नारद) को भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानका परला पार दिखाया-शोकके मूलकारण अज्ञानको ज्ञानसे निवृत्त कर ब्रह्मदर्शन कराया" इत्यादि श्रुतियें-मोक्षके प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्तिमात्र आत्मज्ञानका फल है, ऐसा दिखाती हैं (तात्पर्य यह है, कि-आत्मज्ञानसे मुक्ति नामका कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है, मुक्ति तो है ही, अज्ञानने उसको ढक रक्खा है, आत्मज्ञान उस आवरणको दूर कर देता है, तब मुक्ति अपने आप प्रकाशित होजाती है। यहाँ

आदि पदसे "एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति" जो इस गुहामें रहे हुए-गुप्त ब्रह्मको जान लेता है वह अविद्याकी गाँठको खोल डालता है, इत्यादि श्रुतियाँ समझनी) [तथा···भवति] ऐसा ही न्यायसे पुष्ट हुआ आचार्यप्रणीत ‡ सूत्र है (अर्थात् तत्त्वज्ञान मुक्तिका हेतु है, कर्म नहीं, यही बात आचार्य अक्षपाद गौतम मुनिने अपने न्याय-सूत्रमें भी कही है, यथा–) दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इनमें सबसे अन्तके मिथ्याज्ञानका नाश होने पर, उसके अनन्तर दोषका, फिर प्रवृत्तिका, फिर जन्मका, और फिर दुःखका नाश होने पर मोक्षकी प्राप्ति होती है (तात्पर्य यह है, कि-इस सूत्रमें पाठकी अपेक्षासे कारण आगे और कार्य पहले है। कारणके नाशसे कार्यका नाश कहा है, जैसे कफका नाश होने पर कफसे उत्पन्न होने वाले ज्वर का नाश होता है, ऐसे ही 'मनुष्योऽहं, गौरोऽहम्' मैं मनुष्य हूँ, मैं सुन्दर हूँ ऐसे मिथ्याज्ञानका नाश हो जाने पर तन्मूलक राग द्वेष मोह आदि दोषोंका नाश होजाता है, दोषका नाश होने पर धर्म और अधर्मरूप प्रवृत्तिका नाश होता है, प्रवृत्तिके नाशसे फिर देहकी प्राप्तिरूप जन्मका नाश होता है। इस पाठके क्रमसे उत्तरोत्तरके हेतुका नाश होने पर

(टिप्पणी)–‡ "आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन सोच्यते।" शास्त्रके अर्थका संचय करे, शिष्योंको सदाचारमें स्थापन करे और स्वयं सदाचरण करे इस लिये वह आचार्य कहलाता है। यहाँ 'सोच्यते' में 'स उच्यते' की सन्धि आर्ष है।

उस प्रवृत्तिरूप हेतुसे अव्यवहित लगे हुए जन्मरूप कार्यका नाश होकर दुःखध्वंसरूप अपवर्ग-मोक्ष प्राप्त होजाता है) और मिथ्याज्ञानका नाश ब्रह्म तथा आत्माके एकत्व ज्ञानसे होता है (तात्पर्य यह है, कि-मिथ्याज्ञान-अविद्या राग आदिको उत्पन्न करने वाला संसारका मूलकारण है, पूर्णज्ञान होने तक विरोध करने वाली यह अविद्या ब्रह्म और आत्माके एकत्वविज्ञान-तत्त्वज्ञानसे नष्ट होती है। अविद्या निवृत्त हुई कि-ब्रह्मस्वरूपका प्रकाश होजाता है, वही मोक्ष है, मोक्ष कोई क्रियाका कार्य नहीं है और भेदज्ञान तो भ्रान्तिरूप है और अनर्थका हेतु है। श्रुति भी कहती है-"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" जो भेददृष्टि करता है वह बराबर जन्ममरणके चक्रमें पड़ता चला जाता है। यदि कोई शङ्का करे, कि-ब्रह्म और आत्माका एकत्वविज्ञान भी भेदज्ञानकी प्रमा नहीं है, क्योंकि-सम्पदादिरूप होनेसे भ्रान्तिरूप है, तो इस पर कहते हैं, कि-) [न चेदं··· जयति] यह ब्रह्म और आत्माका एकत्वविज्ञान सम्पद्रूप नहीं है (अल्पवस्तु रूप अवलंबनमें कुछ एक सादृश्य होनेके कारण बड़ी वस्तुका अभेदज्ञान जम जाना सम्पद् कहलाता है) जैसे, कि-"मन वृत्तिभेदसे अनन्त है, ऐसा प्रसिद्ध है, विश्वेदेव भी अनन्त हैं, ऐसा प्रसिद्ध है, इससे (अनन्ततारूप समान धर्मसे) लोकको जीतता है (तात्पर्य यह है, कि-वृत्तियोंके अनन्त होनेसे मन अनन्त है, उससे उत्तम विश्वेदेवता भी अनन्त हैं, इस अनन्तताकी समतासे विश्वेदेवता ही मन हैं, इसका नाम संपद् है और इससे

अनन्त फलकी प्राप्ति होती है, ऐसे ही चेतनत्वरूप समताके जीवमें ब्रह्मका अभेद मानलेना सम्पद्‌ वा सम्पत् उपासना है। वृत्तिकी अनन्ततासे अल्प मन महान् विश्वेदेवोंकी समान ही है, इस लिये विश्वेदेवताओंका मनमें सम्पादन करके मनरूप आलम्बनको अविद्यमानसम विद्यमान न हो ऐसा करके प्रधानरूपसे सम्पाद्यमान विश्वेदेवताओंका ध्यान करना और उससे अनन्त लोकोंकी प्राप्तिरूप फलको पाना, या जैसे श्रुतिका कहा हुआ है तैसे ही चैतन्यरूप समतासे अल्प जीवको महान् ब्रह्मरूप सम्पादन करके—जीवरूप आलम्बनको अविद्यमानसम करके प्रधानरूपसे ब्रह्मका चिन्तवन करना और उससे अमृतत्वरूप फलको प्राप्त करना सम्पद्‌ है। श्रुतिमें मोक्षके लिये उपासनाका ही विधान किया है, ऐसा जो कहते हैं, उनसे कहना चाहिये, कि—जीव और ब्रह्मकी अभेदोपासना सम्पद्रूप नहीं है) [न च⋯ध्यासः] यह ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान अध्यासरूप भी नहीं है। जैसे, कि—"अन्तःकरण ब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिये" "आदित्य ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है" इत्यादि श्रुतियोंमें जैसे मनमें और आदित्यमें ब्रह्मदृष्टि अर्पण करनेकी व्यवस्था है। जीव ब्रह्म के स्थलमें ऐसा नहीं है। मन ही ब्रह्म है, सूर्य ही ब्रह्म है ऐसे अनुध्यानका नाम प्रतीक उपासना और अध्यासरूपिणी उपासना है। पूर्वोक्त सम्पत् उपासनासे इस उपासनाका यह भेद है, कि—सम्पत् उपासनामें ध्यानके आलम्बनका तिरस्कार होजाता है और उसकी प्रधानता नहीं रहती, परन्तु प्रतीक उपासनामें उससे उलटा है अर्थात् प्रतीक उपा-

सनामें अवलम्बनकी प्रबलता और प्रधानता रहती है) [नापि ....रूपम्] और यह एकत्वविज्ञानविशिष्ट क्रियायोग है निमित्त जिसका ऐसा ध्यानरूप क्रियायोगजनित ध्यान-रूप भी नहीं है, "वायु निःसन्देह संवर्ग है" "प्राण भी निःसन्देह संवर्ग है" इत्यादिकी समान (तात्पर्य यह है, छान्दोग्य उपनिषद्की श्रुति है, कि—"वायुर्वाव सम्वर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति, यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवा-प्येति, यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेव प्येति ॥ १ ॥ यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त इत्य-धिदैवतम् ॥ २ ॥ अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः । प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणोह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥ तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु देवः प्राणेषु" यहाँ 'वाव' पद का अर्थ निश्चय है, निःसन्देह वायु संवर्ग है "संवर्गः संवर्ज-नात्. संग्रहणात् संग्रसनाद्वा ।" वायु अग्नि आदि देवताओंको संवर्जन संग्रहण वा संग्रसन करता है—आत्मभावमें लाता है, इस लिये वायु संवर्ग कहलाता है । जब अग्नि शान्त होता है तब वायुरूपको प्राप्त होता है, जब सूर्य अस्त होता है तब वायुरूपको प्राप्त होता है, जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वायुस्वरूपको पाता है, अस्तके समय सूर्य और चन्द्रमाके अदृश्य होनेका कारण वायु है अर्थात् स्वरूपमें रहते हुए ही वायुमें लीन होजाते हैं अथवा प्रलयकालमें सूर्य और चन्द्रमा स्वरूपसे भ्रष्ट हो तेजोरूप होकर वायुमें लीन होजाते हैं । जब जल सूखता है तो वायुमें लीन होजाता है । इस प्रकार

वायु अग्नि आदि बलवान् देवताओंका संवरण करता है, इस लिये संवर्गगुण है–उपास्य है। इस प्रकार अधिदैवत है–देवताओंमें संवर्गदर्शन कहा, अब अध्यात्म–आत्मामें संवर्गदर्शन कहते हैं–प्राण मुख्य संवर्ग है। पुरुष जब उठता है तब वाणी प्राणस्वरूपको पाती है–अग्नि वायुस्वरूप होजाता है, चक्षु श्रोत्र और मन प्राणस्वरूप होजाते हैं, प्राणी वाणी आदि सबका संवरण करता है, इस लिये ये दो संवर्ग हैं, वायु देवताओंमें और प्राण वाणी आदि प्राणोंमें संवर्ग है। प्रलयकालमें अग्नि आदि निवृत्त होजाते हैं तब भी वायु रहता है और सोनेके समय वाणी आदि निवृत्त होजाते हैं तब भी प्राण रहता है, इस लिये "वृजी वर्जने" इस धातुसे वर्ग है और वर्जन कहिये संहरण क्रियाका कर्त्ता है, इस लिये संवर्ग कहलाता है। प्रलयकालमें वायु अग्नि आदिका संहार करता है इस लिये संवर्ग है और शयनकालमें प्राण वाणी आदिका संहार करता है, इस लिये संवर्ग कहलाता है, इस प्रकार छान्दोग्यमें ध्यानका विधान किया है ऐसे ही जीव और ब्रह्मका बृंहण (वृद्धि) क्रियाके योगसे ऐक्यज्ञानकी विशिष्टक्रियानिमित्तक ध्यान, "अहं ब्रह्मास्मि–मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि वाक्योंके द्वारा शरीर आदिकी बृंहणरूप क्रियासे जीवकी ब्रह्मभावमें उपासना। महाप्रलयके समय वायु अग्नि आदिका संवरण करता है—अपनेमें स्थापन करलेता है, मृत्युकालमें प्राण सब इन्द्रियोंको अपनेमें स्थापन करके उत्क्रमण करता है। वायु और प्राणमें इस संवर्गदृष्टिको दश दिशाओंमें फैला हुआ जगत् दिखारहा है, ऐसे ही जीवात्

में बृंहण क्रियासे ब्रह्मदृष्टि अमृतत्व फल देसकेगी, यह कहना ठीक नहीं है, और आज्य (घी) को देखना आदि कर्मकी समान कर्ममें अङ्ग जो आत्मा उसका संस्काररूप भी आत्मज्ञान नहीं है (अर्थात् घीको देखना रूप हविःसंस्कार जैसे यज्ञकर्मका अंग है तैसे "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्यसे विहित आत्मदर्शनरूप कर्म यज्ञकर्त्ताके अङ्गभूत आत्माके संस्कारके लिये नहीं है [सम्पदादि···पद्येरन्] क्योंकि–जीव ब्रह्मके एकत्वज्ञानको पूर्वोक्तरीतिसे सम्पद्ज्ञान या उपासनाके लिये अध्यस्त वा आरोपित ज्ञानरूप मानलिया जायगा तो "तत्त्वमसि–वह तू है" "अहं ब्रह्मास्मि–मैं ब्रह्म हूँ" "अयमात्मा ब्रह्म–यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतिवाक्योंका, ब्रह्म और आत्मा एक वस्तु है, इसका वर्णन करनेमें लगा हुआ पदसमन्वय–पदोंका तात्पर्य भङ्ग होजायगा तथा "ब्रह्मज्ञान होनेसे हृदयकी गाँठ खुलजाती हैं और सकल संशय कटजाते हैं" ऐसे वाक्य जो अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलको सुनाते हैं वे मिथ्याभूत होजायँगे (क्योंकि–संपद् आदि ज्ञान तो अप्रमा होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति कर ही नहीं सकेगा) और "जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होजाता है" ऐसे २ ब्रह्मभावकी प्राप्तिके बोधक वचन संपद् आदिके पक्षमें ठीक नहीं बैठेंगे (क्योंकि–जीवकी ब्रह्मत्वसंपत्तिमें तद्भाव कैसे आवेगा ? यदि कहो, कि–नष्ट होजाय, तो एक वस्तुका अन्यवस्तुरूप होजाना ठीक नहीं, इस लिये संपदादि पक्षमें तद्भाववाक्योंका मुख्य अर्थ नहीं रहता) [तस्मान्न···तन्त्रैव] इस लिये ब्रह्म और आत्माका एकत्व-

विज्ञान-जीव ब्रह्मका अभेदज्ञान सम्पदादिरूप नहीं है (अर्थात् उसको सम्पद्ज्ञान वा अध्यस्तज्ञान आदि नहीं कहा जा सकता) इस लिये ब्रह्मविद्या पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है (अर्थात् इच्छासे उत्पाद्य नहीं है) तो क्या है ? (इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका विषय जो वस्तु उसका ज्ञान जैसे वस्तुके स्वरूपके अधीन होता है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी ब्रह्मवस्तुके ही अधीन है। [एवम्'''कल्पयितुम्] ऐसे ब्रह्मका और उस ब्रह्मके ज्ञानका भी किसी भी युक्तिके द्वारा कार्यके साथ संबन्ध कल्पना नहीं किया जा सकता (अर्थात् ब्रह्म वा ब्रह्मज्ञान विधिका अङ्ग नहीं हो सकता)।

(भाष्य)-न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात् "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" (बृ० २।४।१३) इति च। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति-"यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते" इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (केन० १।४) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न। अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। नहि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किन्तर्हि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति। तथा च

शास्त्रम्-"यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥" (केन० २ । ३) "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" (बृ० ३ । ४ । २) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्त्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः। यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। नहि दध्यादि विकार्यं, उत्पाद्यं वा घटादि, नित्यं दृष्टं लोके। न चाप्यत्वेनाऽपि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः,काम आकाशस्येव।

(अनुवाद)-[न च···दिति च] "विदि—जानना" इस क्रियाके कर्मरूपसे भी ब्रह्मका कार्यके साथ संबन्ध नहीं है,क्योंकि—"वह विदितसे भी अन्य है और अविदितसे भी अन्य है (न कार्य है, न कारण है) और "जिसके द्वारा यह सब (दृश्य पदार्थ) जानाजाता है उसको (फिर) किस के द्वारा जान सकता है ?" इसके द्वारा भी ब्रह्मको विदि-क्रियाकी कर्मताका निषेध किया है। [तथा···इति] ऐसे ही उपास्ति क्रियाकी कर्मताका भी निषेध होता है (अर्थात् यह उपासनानामक मानसी क्रियाका भी अविषय है) "जो वाणीके द्वारा कहा नहीं जाता और जिससे वाणी उक्त होती है" इस प्रकार शास्त्रने ब्रह्मपदार्थकी अविषयता

(इन्द्रियोंसे अगोचरता) को कह कर (अन्तमें) "तू उस ही ब्रह्म जान, और इसको नहीं कि-जिसकी लोग इद करके (यह अमुक है ऐसा कह कर) उपासना करते (अर्थात् लोग मनसे ब्रह्मको नहीं जान सकते, क्योंकि- इन्द्रियोंका अगोचर है, उस इन्द्रियोंके अवेद्यको ही तू जान और जिस उपाधिविशिष्ट देवता आदिकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं हैं, इसपर यदि कोई शङ्का कि यदि ब्रह्म शब्दबोधका अगोचर है तब तो तुम या सिद्ध करते चले-आरहे हो कि-ब्रह्म शास्त्रप्रमाण है, इस भी खण्डन होगया ? इस पर कहते हैं, कि-) [अवि यत्वे ···अपनयति] ब्रह्मके इन्द्रियोंका अविषय होने पर की शास्त्रप्रमाणकता असिद्ध होजायगी, ऐसी शङ्का करो तो वह ठीक नहीं है,क्योंकि-अविद्यासे कल्पित भेदकी निवृ करना, यह शास्त्रका तात्पर्य है, शास्त्र इदन्ताके विषय (कोई विशेषण देकर) ब्रह्मका प्रतिपादन करना चाहता है (शास्त्र तो इतना ही कहता है, कि-ब्रह्मपद प्रत्यगभिन्न है, इस लिये वह इदंज्ञानका अविषय है, उस अविद्याकल्पित ज्ञेयत्व आदि भेदभावका सम्पर्क भी नहीं [तथा च शास्त्रम्] ऐसा ही शास्त्र कहता भी है [यस्या चैवमादि] "जिसको वह ब्रह्म अमत-अविषय- मानसवि वा इन्द्रियोंका अगोचर है, उसको ही वह मत-ज्ञात है जिसको वह मत-ज्ञात है (अर्थात् जो कहता है, कि-मैं को जानता हूँ) वह उसको नहीं जानता, इस लिये वा विक ज्ञानियोंको ब्रह्म विषयरूपसे अज्ञात है और ठीक

समझने वालोंको विषयरूपसे ज्ञात है (तात्पर्य यह है, कि-वह शाब्दज्ञानका अविषय है—वेदान्त आदिको सुनने पर मनमें जिस वृत्ति- ज्ञानका उदय होता है ब्रह्म उस वृत्तिका प्रकाश्य नहीं है,क्योंकि—वह स्वयंप्रकाश है)"और"दृष्टिके द्रष्टाको तू नहीं देख सकेगा तथा बुद्धिवृत्तिके ज्ञाताको तू नहीं जान सकेगा अतः (जो कहते हैं,कि—हम ब्रह्मको जानते हैं वे नहीं जानते और जो जानते हैं,कि-ब्रह्मज्ञानका अविषय है वास्तवमें वे ही ब्रह्मज्ञानी हैं)"इत्यादि बहुतसे प्रमाण हैं। [अतः··· दोषः] इसलिये (तत्त्वज्ञानके द्वारा) अविद्याकल्पित संसारी भाव दूर होकर नित्यमुक्त आत्मस्वरूपके प्रकाशित होजाने से मोक्षतत्त्वमें अनित्यताका दोष नहीं लगता (अर्थात् जो था आवरणके न रहने पर वही प्रकाशितमात्र होजाता है, उत्पन्न नहीं होता है, जो उत्पन्न नहीं होता वह अनित्य होगा ही कैसे ?) [यस्य···मनित्यत्वम्] जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य —उत्पत्तिके योग्य है, उसके मतमें मोक्षमें कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाकी अपेक्षा होती है, ऐसे ही जिसके मतमें मोक्ष विकार्य–विकारके योग्य है उसके मतमें भी यह बात है, परन्तु इन दोनों ही पक्षोंमें मोक्ष अवश्य ही अनित्य है [नहि···लोके] क्योंकि–दही आदि विकार्य वस्तु को और घट आदि उत्पाद्य वस्तुको लोकमें किसीने नित्य होते नहीं देखा। [न···आकाशस्येव] और ब्रह्म प्राप्य–प्राप्त होने योग्य है, ऐसा माननेमें भी उसको कार्यकी अपेक्षा नहीं है (अर्थात् उसको कार्य वा क्रियाफल नहीं कहा जासकता) क्योंकि–ब्रह्म पदार्थ आत्माका ही स्वरूप है, इसलिये यह

(ग्राम आदिकी समान) प्राप्य प्राप्त होने योग्य पदार्थ नहीं है। ब्रह्मको आत्मस्वरूपसे भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं होसकता, क्योंकि-वह सर्वगत-सदा सर्वत्र विद्यमान है, इसलिये वह सर्वव्यापक आकाशकी समान सबको सदा प्राप्त है।

(भाष्य)-नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा। न तावद्गुणाधानेन संभवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्। न। क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। "अविकार्योऽयमुच्यते" इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते।

(अनुवाद)-[नापि···मोक्षस्य] मोक्ष संस्कार्य-संस्कारके योग्य भी नहीं है, कि-जिससे व्यापारकी अपेक्षा करे। वास्तवमें संस्कार संस्कार्य वस्तुमें गुण डालनेसे होता है या दोषको दूर करनेसे होता है। पहले गुणाधानसे तो हो नहीं सकता, क्योंकि-मोक्ष जिसमें अतिशय (उत्कर्ष-श्रेष्ठत्व)

नहीं डाला जासकता ऐसा जो ब्रह्मतत्त्वरूप है, तैसे ही दोषको दूर करनेसे भी नहीं होसकता, क्योंकि–मोक्ष नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूप है (तात्पर्य यह है, कि–संस्कार दो प्रकार से होता है, गुणाधान (गुण डालने) से या दोषको दूर करनेसे, जैसे बीजपूरके फूल पर लाखका रस डालनेसे उस फूलका फल लाखके रङ्गकेसा होता है, यह गुणाधानसंस्कार है और धोने आदिसे वस्त्रमेंका मैल दूर होजाता है, यह दोषापनयन संस्कार है । ब्रह्ममें गुणोंका डालना तो बन नहीं सकता, क्योंकि–हम बूझते हैं, कि–गुण ब्रह्मका स्वभाव है या ब्रह्मसे भिन्न है ? यदि स्वभाव है तो नित्य होनेसे उस का आधान कैसा ? और यदि भिन्न है तो कार्य होनेसे मोक्ष अनित्य होजायगा और ब्रह्ममें दोषको दूर करना रूप संस्कार नहीं होसकता, क्योंकि–जब ब्रह्ममें दोष है ही नहीं तो दूर क्या होगा ?) [स्वात्म···संस्क्रियते] यदि कहो, कि—मोक्ष आत्माका अपना धर्म है, वह ढका हुआ रहता है, क्रियाके द्वारा संस्कार होने पर वह मोक्ष नामक धर्म आत्मामें फिर प्रकट होजाता है, जैसे कि—भास्वरत्व–चमकाहट शीशेका धर्म है (वह यदि मैलसे ढक जाता है तो) घिसने की क्रियासे संस्कार कर देने पर फिर प्रकट होजाता है (ऐसा ही मोक्ष है) तो यह कहना ठीक नहीं है, (क्यों कि-शीशेमें मैल होता है तो उसको घिस कर दूर कर दिया जाता है, परन्तु ब्रह्म तो नित्यशुद्ध है उसमें मल है ही नहीं तो दूर क्या किया जायगा ? मोक्ष तो ब्रह्मका स्वभाव है वह अनादि अविद्यारूप मैलसे ढक जाता है और जब उपा-

सनासे यह मैल दूर होजाता है तो मोक्ष स्पष्ट दीखने लगता है, मोक्ष कुछ उत्पन्न नहीं होता है। इस पर कहते हैं, कि-आत्माको जो नित्यशुद्ध कहते हो, यह तुम्हारा कहना ही असिद्ध है, क्योंकि-संसारावस्थामें वह अविद्यासे मलिन रहता है और उस मैलका जो नाश होता है वही उसका संस्कार है, यहाँ हम बूझते हैं, कि-आत्मामें मैल सत्य है या कल्पित है? यदि कल्पित है तब तो ज्ञानसे ही उसका नाश होता है, क्रियासे नहीं। यदि कहो, कि—सत्य है तो यह कह नहीं सकते) क्योंकि—आत्माको किसी प्रकारकी क्रियाका आश्रय (आधार) सिद्ध नहीं किया जासकता (आत्मामें क्रिया होती है, यह बात युक्तिसे सिद्ध नहीं की जासकती, क्योंकि-क्रियाका स्वभाव ही यह है, कि-) क्रिया जिसके आश्रयसे रहती है उस आश्रयमें संयोग आदि विकार को उत्पन्न किये बिना अपने स्वरूपको पा ही नहीं सकती (शीशा सावयव पदार्थ है और क्रियाके आश्रय ईंटके चूर्ण आदि द्रव्यके साथ संयोग होनेसे उसका संस्कार होसकता है, परन्तु आत्मा निरवयव है इस लिये उसमें क्रियाकी उत्पत्ति नहीं होसकती) यदि आत्मामें क्रिया होय और उस क्रियासे आत्मामें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न होजाय तो आत्माकी अनित्यताका प्रसङ्ग आजाय और "यह आत्मा अविकारी कहलाता है" इत्यादि श्रुतिवाक्योंके अर्थमें बाधा पड़ जाय, परन्तु यह बाधा (मीमांसकोंको) इष्ट नहीं है, इस लिये आत्माकी अपने आश्रयसे क्रिया नहीं होसकती। अन्य आश्रयमें जो क्रिया होती है उसका आत्मा अविषय है, इस लिये उससे भी आत्माका संस्कार नहीं होता।

(भाष्य)—ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न। देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संक्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलं, अहमरोग इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहङ्कर्त्राऽहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते, तत्फलञ्च स एवाश्नाति "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (मुण्ड० ३। १। १) इति मन्त्रवर्णात्। "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (काठ० १। ३। ४) इति च। तथा च "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥" (श्वे० ६। ११) इति। "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्॥" (ईशा० ८) इति च। एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियाऽनुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा।

क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते ।

(अनुवाद)-[ननु···अश्नाति] परन्तु देहके आश्रयसे स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत धारण आदि क्रियाके द्वारा देही (आत्मा) को संस्कारयुक्त होते हुए देखते हैं ? नहीं-ऐसा नहीं है । क्योंकि-उस क्रियाके द्वारा तो देह आदिके साथ जुड़ा, अविद्याका जकड़ा हुआ आत्मा ही संस्कार पाता है, स्नान आचमन आदि देहके आश्रयसे होते हैं, यह तो प्रत्यक्ष ही है, इस लिये उस देहके आश्रयसे रहने वाली क्रियाके द्वारा उसके साथ जुड़ा हुआ ही कोई, अविद्याके कारण आत्मा रूप माना हुआ संस्कार पाता है, यह ठीक ही है । (तात्पर्य यह है, कि-अविद्यासे प्रतिबिंबित-जिसमें अविद्याका प्रतिबिंब पड़ रहा है ऐसे आत्माको "नरोऽहम्-मैं मनुष्य हूँ" ऐसी भ्रान्ति होती है, इस कारण देह ही आत्मा है, ऐसा समझ कर और वही क्रियाका आश्रय है, ऐसे भ्रममें पड़ कर मनुष्य आत्माको संस्कारके योग्य वा क्रियाका आश्रय मानने लगता है, परन्तु विद्वान् कहते हैं, कि-अनादि अनिर्वचनीय अविद्याका आश्रय ब्रह्म-जीव वा क्षेत्रज्ञ है, वह स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर और इन्द्रियोंके साथ संहत जुड़ा हुआ है, इस संघात-संयोगमें पड़ा हुआ, उसके अभेदसे 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीतिका विषय होता है, इस लिये शरीर आदिके संस्कार और धर्म अभेदभावके अभिनिवेशसे आत्मा के हो जाते हैं, जैसे, कि-अङ्गरागके सुगन्धि आदि धर्म कामिनीके कहलाते हैं, ऐसे ही यहाँ भी जिसके आश्रयसे क्रिया होती है, जो व्यवहारिक प्रमाणका विषय होता है।

उसका ही संस्कार होता है) जैसे देहके आश्रयसे होने वाली चिकित्साके द्वारा रस रुधिर आदि धातुकी विषमता दूर होकर धातुसाम्य होनेसे देहके साथ जुड़े हुए और उसका अभिमान रखने वाले आत्माको आरोग्यका फल मिलता है, कि–जिसमें 'मैं रोगरहित हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, ऐसे ही स्नान आचमन यज्ञोपवीत धारण आदि क्रिया करनेके अनन्तर जिस अधिकरणमें "मैं शुद्ध संस्कार किया हुआ हूँ" ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है वह अधिकरण ही उस क्रियासे संस्कार पाता है और वह देहके साथ संहत–देहविशिष्ट है, उस ही अहङ्कर्त्ता 'मैं' ऐसे प्रत्ययके विषय धीमात्रके कर्त्तासे सब क्रियाएँ होती हैं और उसका फल वही भोगता है (तात्पर्य यह है, कि—अविद्यावश देहका अभिमानकरने वाला जीवात्मा अर्थात् अन्तःकरणका प्रतिबिम्बरूप'मैं कर्त्ता हूँ'ऐसा भासने वाला आत्मा,मनके साथ आत्माका अभेद होनेसे जिस के काम आदि प्रत्यय हैं ऐसा प्रत्ययवान् आत्माक्रियाके फलको भोगता है–मनविशिष्ट अहं अभिमानी जीवका–विशिष्ट आत्मा का संस्कार होता है, केवल साक्षिरूपका संस्कार नहीं होता है, इसमें प्रमाण देते हैं) [तयो····वर्णात्] "उनमेंका एक स्वादिष्ट पिप्पलको खाता है और दूसरा न खाता हुआ प्रकाशता है" (अर्थात्–प्रमाता और साक्षी इन दोनोंमें मनके संसर्गमात्रसे कल्पित कर्त्ता बना हुआ प्रमाता कर्मफलको भोगता है, वही संस्कारित होनेसे अन्य होकर साक्षीरूपसे प्रकाशता है) ऐसा मन्त्रमें वर्णन है। [आत्मा···इति] "जब आत्मा (देह) इन्द्रियें और मनसे युक्त होता है, तो

इस (प्रमाता आत्मा) को विद्वान् भोक्ता कहते हैं" (इस प्रकार संहत-जुड़े हुए और देह आदि उपाधियों वाला आत्मा ही भोक्ता और मिथ्या संस्कार्य है) यह मन्त्र भी वही बात कहता है। (अब उपाधिरहित आत्माके असंस्कार्य होनेमें प्रमाण कहते हैं) [तथा'''दर्शयितुम्] तथा "वही देव कहिये स्वप्रकाशस्वभाव है, सकल भूतोंमें एक अर्थात् अद्वितीय है, गूढ़ है अर्थात् स्वप्रकाश होकर भी मायारूप आवरणके कारण गूढ़ है अर्थात् अप्रकाशसा होरहा है, वह सर्वव्यापी-विभु और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा-प्रत्यक् आत्मा है, कर्माध्यक्ष-कर्मोंका साक्षी है अर्थात् कर्त्ता नहीं है, सकल भूतोंका अधिवास आश्रय है, वह साक्षी, बोद्धा-ज्ञाता, केवल, निर्गुण और निर्दोष है" "वही आत्मा सर्वत्र व्याप्त, दीप्तिमान् वा प्रकाशमान्, अकाय-लिङ्गशून्य वा देहरहित, अव्रण-अक्षत, अस्नाविर-स्नायुरहित वा अविनाशी (अर्थात् स्थूल शरीरसे रहित), शुद्ध-राग आदि मलोंसे रहित और अपापविद्ध पुण्य पापके स्पर्शसे रहित है" ये दोनों मन्त्र ब्रह्मकी अनाधेयातिशयता (जिसमें किसी प्रकारका उत्कर्ष स्थापन नहीं किया जासकता ऐसी असंस्कार्य अवस्था) और नित्यशुद्धताको दिखाते हैं। और मोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है (इस कारण मोक्ष भी संस्कारके योग्य नहीं है) मोक्षमें इससे अन्य क्रियाके प्रवेशका द्वार कोई भी नहीं दिखा सकता (तात्पर्य यह है, कि-उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार इनके सिवाय और कोई पाँचवाँ क्रियाका फल नहीं है, कि जो मोक्षको क्रियासाध्य सिद्ध कर सके, परन्तु इस प्रकार

मोक्ष यदि असाध्य है तब तो उसके लिये शास्त्रका आरम्भ करना ही निरर्थक है, इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहते हैं, कि —) [तस्मात्···नोपपद्यते] इस लिये एक ज्ञानके सिवाय क्रियाके लेशमात्रका सम्बन्ध भी इस मोक्षके विषयमें संघटित नहीं होता (अर्थात् ज्ञानके विना मोक्ष नहीं होता, उस ज्ञानके लिये ही शास्त्रका आरंभ है, मिथ्या नहीं है)।

(भाष्य)—ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न। वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च। यथा "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्" इति। "सन्ध्यां मनसा ध्यायेत् (ऐ० ब्रा० ३। ८। १) इति चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुं शक्यं,पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानन्तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुमशक्यं केवलं वस्तुतंत्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रम्, नाऽपि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा च "पुरुषो वाव गौतमाग्निः" "योषा वा गौतमाग्निः"(छा० ५। ७, ८। १) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनतन्त्रा,नाऽपि पुरुषतन्त्रा। किन्तर्हि प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्।

(अनुवाद)-[ननु···वैलक्षण्यम्] परन्तु ज्ञान मनका व्यापार रूप एक प्रकारकी क्रिया है (इस लिये मोक्षमें क्रियाके प्रवेशका लेश भी नहीं है, ऐसा कहना व्याघात-असम्बद्ध अर्थका प्रलाप है ‡) नहीं—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि—ज्ञान- क्रियासे विलक्षण अत्यन्त भिन्न है (अर्थात् ज्ञान मनका व्यापार अवश्य है, परन्तु वह ब्रह्ममें फल उत्पन्न नहीं करसकता, क्योंकि-ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने से विदि क्रियाका कर्म नहीं होसकता, इस प्रकार ज्ञान और मानसी क्रियामें भेद है) ज्ञानमात्र वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा रखता है, परन्तु क्रिया वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा नहीं रखती, जो वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षा नहीं रक्खे और प्रेरित हो अर्थात् 'कर' इस प्रकार जिसका उपदेश हो वही क्रिया है और वह पुरुषके चित्तके व्यापारके अधीन होती है (क्योंकि-पुरुष उसको चाहे करे, चाहे न करे और चाहे अन्य प्रकारसे करे, यह सब उसके वशमें है) जैसे, कि—"जिस देवताके लिये (होताने) हवि ग्रहण किया हो उस देवताका वषट्कार † करते समय ध्यान करे" "सन्ध्याका मनसे ध्यान करे"

(टिप्पणी)- ‡ जैसे कि—यावज्जीवमहं मौनी, ब्रह्मचारी च मे पिता। माता तु मम वन्ध्याऽऽसीदपुत्रश्च पितामहः॥" मैं जीवनपर्यन्त मौनी हूँ मेरे पिता आजन्म ब्रह्मचारी हैं, मेरी माता वन्ध्या थी और मेरे दादा पुत्रहीन थे ॥

† "स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषट् वौषट् वषट् स्वधा।" देवताको हवि देते समय स्वाहा, श्रौषट, वौषट, वषट्, स्वधा इनमेंसे किसी एक शब्दका प्रयोग किया जाता है।

इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है तात्पर्य यह है, कि-होता देवताको देनेके लिये हवि ग्रहण करता है, उसमें देवताकी ध्यानक्रिया देवताके स्वरूपसे निरपेक्ष है, ऐसा ध्यान वा चिन्तन ज्ञान नहीं गिना जायगा, किन्तु क्रिया ही गिना जायगा, ध्यान जैसे क्रिया है ज्ञान वैसा नहीं है) ध्यान शब्दका अर्थ है, चिन्तवन, यद्यपि यह मनका व्यापार है तथापि पुरुषके अधीन है, क्योंकि इच्छा हो तो पुरुष उसको करसकता है, इच्छा न हो तो नहीं भी करसकता है और अन्यथा भी करसकता है (परन्तु ज्ञान ऐसा नहीं है) ज्ञान तो प्रमाण जन्य है और प्रमाण जैसी वस्तु होती है उस वस्तुके स्वरूपका अवलम्ब लेकर उत्पन्न होता है, इस लिये वह ज्ञान इच्छानुसार करने न करने वा अन्यथा करनेको अशक्य है, वह केवल वस्तुके ही अधीन है, न प्रेरणा—आज्ञाके अधीन (विधिका विषय) है और पुरुषके ही अधीन है। इसलिये ज्ञान पदार्थ मानस होने पर भी (मनो व्यापार वा मानसी क्रिया होने पर भी) क्रियाके साथ उसका बड़ाभारी भेद है) वस्तुके अधीन होनेसे और पुरुषके अधीन न होनेसे ध्यानसे ज्ञानका बड़ा भेद है, विधिसे ध्यान किया जासकता है, ज्ञान नहीं किया जासकता) [यथा···वेदितव्यम्] जैसे कि-"हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है" "स्त्री ही अग्नि है" इत्यादि श्रुतियोंमें जो स्त्री पुरुषमें अग्निबुद्धि उत्पन्न करने का विधान है (अग्निभावकी भावनासे ध्यान करनेका उपदेश है) वह मानसी क्रिया है और केवल प्रेरणाजन्य +

(टिप्पणी)-+ शास्त्रकी आज्ञाके बलसे ही श्रोताके मनमें ऐसी चिन्ता प्रकट होती है।

होनेसे क्रिया ही है और पुरुषके अधीन है तथा जो प्रसिद्ध अग्निमें अग्नि बुद्धि होती है वह न प्रेरणा-शास्त्रकी आज्ञाके अधीन होती है और न पुरुषके ही अधीन होती है। तो वह कैसी होती है ? (इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-) प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय जो अग्निवस्तु उसके ही अधीन होती है (अग्निस्वरूपका प्रत्यक्ष होते ही अग्निबुद्धि होजायगी, इसका निवारण कोई कर ही नहीं सकेगा, इस लिये मानस व्यापार होने पर भी) वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं है । जो क्रिया है उसको पुरुष अपनी इच्छानुसार करसकता है, इसलिये उसमें शास्त्रके विधिवाक्य-आज्ञावाक्यके ग्रहसे प्रवृत्त हो भी सकता है, परन्तु) सकल प्रमाणोंकी ❀ विषयभूत सिद्ध वस्तुओंमें यही नियम जानना चाहिये (अर्थात् उनमें विधिवाक्यका प्रवेश नहीं होसकता अर्थात् उनका ज्ञान विधिवाक्य से नहीं होगा)

(भाष्य)-तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम् । तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्

❀ यहाँ शङ्का होती है, कि-प्रत्यक्षज्ञान विषयजन्य है इस लिये विषयके अधीन है, परन्तु शाब्दज्ञान ऐसा नहीं है इस लिये वह विधेय क्रिया है, इस पर कहते है, कि-शाब्दज्ञान और अनुमान आदिमें भी ज्ञान अविधेय क्रिया है, क्योंकि-तहाँ भी प्रमाणसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, इस लिये ज्ञान विधिके अयोग्य है ।

किमर्थानि तर्हि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। यो हि बहिर्मुखः प्रवर्त्तते पुरुष इष्टं मे भूयादनिष्टं माभूदिति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्त्तयन्ति "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २ । ४ । ६) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् विज्ञातारम रे केन विजानीयात्" (बृ० ४ । ५ । १५) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० २ । ५ । १९) इत्यादिभिः। यदप्यकर्त्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलङ्कारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्त्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः 'आत्मानं चेद्विजानीयादयस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥' (बृ० ४ । ४ । १२) इति। "एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥" (भ० गीता १५ २०) इति स्मृतिः। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

(अनुवाद) [तत्रै···विषयत्वात्] इस विषयमें यदि ऐसा नियम है (अर्थात् ज्ञान अविधेय है) तो ब्रह्मस्वरूपका

अबाधित ज्ञान भी प्रेरणाके अधीन नहीं है, इस लिये उस ज्ञानके विषयमें जो (विधि अर्थके द्योतक) लिङ् आदि (प्रत्यय) सुननेमें आते हैं वे भी नियोज्य † शून्य ज्ञानका विषय होनेसे पत्थर आदि पर प्रयोग की हुई छुरे आदिकी धारकी समान खुट्ले (निरर्थक) हैं, क्योंकि-हेय उपादेय से रहित वस्तु उनका विषय है। (अर्थात् "आत्मानं पश्येत्-आत्माका दर्शन करना चाहिये" इसमें विध्यर्थक लिङ्प्रत्यय। "ब्रह्म त्वं विद्धि-तू ब्रह्मको जान" इसमें आज्ञार्थक लोट् प्रत्यय और "आत्मा द्रष्टव्यः—आत्मा दर्शनीय है" इसमें विधिवाचक तव्य प्रत्यय है, इस लिये ज्ञान विधेय है, इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहते है, यह ठीक है, कि-लिङ् आदि प्रत्यय सुननेमें आते हैं, परन्तु वे विधिविषयक नहीं हैं, क्योंकि-विधिविषयक माननेसे अप्रामाण्यका प्रसङ्ग आ-जायगा, विधि हेय-त्यागने योग्य और उपादेय-ग्रहण करने योग्य वस्तुके विषयमें होती है और हेय वा उपादेय वह वस्तु होती है, कि-जिसको पुरुष करने, न करने वा अन्यथा

(टिप्पणी)-† "कर, करना चाहिये, करे" इत्यादि आज्ञावाक्य वा प्रवर्त्तक वाक्योंका नाम नियोग है। व्याकरण मेंके लिङ् लोट् आदि प्रत्यय नियोगके बोधक हैं। नियोगका विषय नियोज्य होता है। आप्तवाक्यको सुन कर जिसकी उन आज्ञा किये हुए कामोंमें प्रवृत्ति होती है, शास्त्रकार उस को नियोज्य कहते हैं। 'ज्ञानको कर' ऐसा कहने पर ज्ञान को कोई कर नहीं सकता, इस लिये ज्ञानके विषयमें नियोग निरर्थक है।

करनेमें समर्थ होता है, इसमें ही समर्थ कर्त्ता अधिकार पाया हुआ नियोज्य कहलाता है, परन्तु आत्माका श्रवण, मनन वा निदिध्यासन ऐसा नहीं है, इस लिये विषय और अनुष्ठाता के न होनेसे विधिका अभाव है, इस लिये लिङ् आदि, जैसे पत्थर पर हथियारकी धार खुटली होजाती है तैसे ही ज्ञानरूप विषयमें पुरुषको प्रवृत्त करनेमें असमर्थ होकर अप्रमाण होजाते हैं) [किमर्थानि···ब्रूमः] तो फिर "अरे मैत्रेयी! आत्मा दर्शनके योग्य है और श्रवणके योग्य है" ऐसे २ विधिकी छायारूप (यज्ञ आदि विषयक प्रसिद्ध विधिवाक्यों की समान) वाक्य किस लिये हैं ? इस पर हम कहते हैं, कि-शास्त्रने पुरुषोंको स्वाभाविक प्रवृत्तिसे विमुख करानेके लिये ही ऐसे २ वाक्य कहे हैं (विधिप्रत्ययोंसे, आत्मज्ञान परमपुरुषार्थका साधन है, इस प्रकार उसकी स्तुति होती है, स्तुतिसे, विषयोंमें प्रवृत्ति परम इष्टका हेतु है—ऐसी भ्रान्ति से जो पुरुष विषयोंमें प्रवृत्त होता है और वह प्रवृत्ति आत्मा के श्रवण आदिके प्रतिबन्धक होती है, उसको निवृत्त करना इन विधिबोधक पदोंका फल है) [यो हि···दिभिः] क्योंकि-जो पुरुष बाहरी विषयोंकी ओरको अभिमुख होकर "इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो, अनिष्ट प्राप्त न हो" ऐसे (अभिनिवेशके वशमें होकर निरन्तर बाहरी विषयोंमें) प्रवृत्त होता है वह उसमें आत्यन्तिक (नित्य—परम) पुरुषार्थको नहीं पाता है, इस परमपुरुषार्थकी इच्छा रखने वाले पुरुषको "अरे मैत्रेयी! आत्मा दर्शनीय है" इत्यादि वेदवाक्य, कार्येन्द्रियसंघातकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके विषयमेंसे (कामादिविषयक प्रवृत्तिसे

अथवा इन्द्रियभोग्य शब्दादि विषयमेंसे) विमुख करके प्रत्यगात्मामें चित्तवृत्तिके प्रवाहरूपसे (ज्ञानके साधन श्रवण आदिमें) प्रवृत्त करते हैं और आत्मस्वरूपकी खोज करनेमें प्रवृत्त हुए उस पुरुषको "यह जो जगत् है सो सब आत्मा ही है" "परन्तु जब इसको सब आत्मा ही है तो किसके द्वारा क्या देखे ? और किसके द्वारा क्या जाने, सबके ज्ञाता को किसके द्वारा जाने" "यह आत्मा ब्रह्म है" ये तथा ऐसी ही दूसरी भी श्रुतियें, हेय और उपादेयसे शून्य आत्मतत्त्वका उपदेश करती हैं [पद-समर्पणम्] अकर्त्तव्य है प्रधान जिसमें ऐसा आत्मज्ञान हान (त्याग) वा उपादान (ग्रहण) के लिये नहीं है (आत्मज्ञानीको कर्त्तव्यका अभाव है आत्मज्ञान कृतिसाध्य नहीं है, उसका विकाश प्रमाण वा आत्मवस्तुके अधीन है, इस लिये वह न हेय है न उपादेय है, केवल जाननामात्र है) यह ऐसा ही है, इसको हम स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त तो हमारे मतका भूषण है (दोष नहीं गुण है) कि–जो ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान होजाने पर सब प्रकारके कर्त्तव्यकी समाप्ति होजाती है (किसी प्रकार का भी कर्त्तव्य नहीं रहता) और वह कृतकृत्य होजाता है। ऐसा ही श्रुति भी कहती है–"यह (स्वयंप्रकाश परमात्मा) मैं हूँ, इस प्रकार पुरुष यदि आत्माको जानजाय (दुर्लभ आत्मज्ञान होजाय) तो किस फलको इच्छा करता हुआ और किस भोक्ताके प्रेमके लिये तपते हुए शरीरके पीछे आप भी तपे ?" (भोक्ता और भोग्यरूप द्वैतके न होनेसे आत्मज्ञानी कृतार्थ होता है। स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और

कारणशरीर, इन तीनों शरीरोंके अध्यासको प्राप्त हुआ प्राणी बाहरी पदार्थोंकी इच्छा करता है, इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं तो सन्तापका अनुभव करता है। आत्माके एकत्वका साक्षात्कार होजाने पर अध्यास दूर होजाता है और फिर सन्तापका अनुभव नहीं करता है।) स्मृति (गीता) ने भी यही बात कही है–"हे भारत! इस आत्माको जान कर बुद्धिमान् होजाता है (वास्तविक ज्ञानी गिनाजाता है) और कृतार्थ होजाता है। इस लिये ब्रह्मका उपासना रूप विधिके अङ्गरूपसे बोध नहीं होता है (किन्तु ब्रह्मसिद्ध वस्तु है)।

(भाष्य)–यदपि केचिदाहुः–"प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति" इति तन्न, ह्यौपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्। योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, "स एष नेति नेत्यात्मा" (बृ० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्त्ता तस्यैवात्मत्वात्।

(अनुवाद)–[यदपि···शेषत्वात्] कोई २ पण्डित †

(टिप्पणी)–† यह संकेत प्रभाकर नामक मीमांसकके लिये है, प्रभाकरके मतमें आत्मा ही कर्त्ता है और वह कर्त्ता लोकप्रसिद्ध है। जिसको सब लोग जानते हैं, उसका वर्णन करके वेदान्त क्या करेगा? इस प्रसिद्ध आत्माके सिवाय अकर्त्ता ब्रह्मात्माके होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, इस लिये

कहते हैं, कि–प्रवृत्ति और निवृत्ति (यह कर इस प्रकार और यह न कर इस प्रकार निषेध करने वाले प्रवर्त्तक और निवर्त्तक) रूप विधिवाक्य ही शास्त्र है और जो कुछ वाक्य देखनेमें आते हैं वे उन विधिवाक्योंके शेष–अङ्ग–पृष्ठपोषक हैं, इस विधि–निषेधसे भिन्न केवल वस्तुको कहने वाला वेदभाग है ही नहीं (अर्थात् हरएक वेदवाक्यका विधि निषेध के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं है), परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि–उपनिषद्से ज्ञेय (जाननेयोग्य) जो पुरुष (ब्रह्मात्मा) वह अनन्यशेष है (किसी अन्यका शेष–अङ्ग नहीं है) [योऽसा···तस्यैवात्मत्वात्] जो यह पुरुष उपनिषदोंमें ही जाना जाता है वह असंसारी ब्रह्म है। उत्पाद्य आदि चार प्रकारके पदार्थोंसे विलक्षण है (उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य और संस्कार्य नहीं है–वह क्रियासे उत्पन्न नहीं होता, विकारको भी प्राप्त नहीं होता, उसको पाया नहीं जाता और उसका संस्कार भी नहीं किया जासकता) यह अपने प्रकरणमें स्थित है और अन्यशेष नहीं है (जुदे प्रकरणरूपसे आरंभ न करके जिनका अध्ययन होता है ऐसे उपनिषद्, पूर्वापरका विचार करके देखा जाय तो पुरुषका ही प्रतिपादन करते हैं, इस लिये उपनिषत्प्रकरणमें पुरुषकी ही प्रधानता है, इस प्रकार अपने प्रकरण–उपनिषत्में वर्णित आत्मा असंसारी है और अन्यशेष–किसी औरका अङ्ग नहीं है) वह नहीं है या प्राप्त नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जा

वेदान्त भी क्रियाका ही वर्णन करता है, इस लिये अक्रिय ब्रह्म अर्थ करनेमें कोई प्रमाण नहीं है।

सकता, क्योंकि–"स एप नेति ‡ नेत्यात्मा–यह नहीं है, यह नहीं है, इस प्रकार (सब दृश्य, पदार्थोंके निषेधसे) जिस आत्माका उपदेश किया गया है वह यह है" इसमें (आत्मा शब्द है और आत्माका निषेध किया नहीं जासकता आत्मा सबका प्रकाश है और सब प्रपञ्चका अधिष्ठान है, अधिष्ठानके विना प्रपञ्चविभ्रम–संसारका भ्रम हो नहीं सकता, जैसे,कि– रस्सीके विना यह सर्प है या धारा है ऐसा भ्रम हो नहीं सकता, ऐसे ही आत्माके अभावमें 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसा भ्रम नहीं होसकता, इस लिये आत्माका खण्डन कोई नहीं कर सकता, वादी किसके द्वारा आत्माका निषेध करेगा? आत्मा नहीं है ऐसा कह सकेगा ?) क्योंकि–जो निषेध करने वाला है उसके ही आत्मा होनेका प्रसङ्ग आता है (आत्मा ही सर्वसाक्षी है–सबका प्रकाशक है। "आत्मा नहीं है" इस तत्त्वका साक्षी–प्रकाशक भी वही है, इस लिये स्वीकार करना पड़ेगा, कि–आत्मा सब निषेधोंकी सीमारूप है, इस लिये उसको नहीं कह कर उड़ा देनेका कोई मार्ग वा उपाय नहीं है)।

(भाष्य)—नन्वात्माऽहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न। तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं

‡ इस श्रुतिमेंका इति शब्द इदं के अर्थमें है।

वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अतएव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" (काठ० १। ३। ११) "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३। ६। २६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्।

(अनुवाद)-[ननु···उपपन्नम्] आत्मा 'अहं' इस ज्ञानका विषय है, इस लिये वह केवल उपनिषदोंमें ही समझ में आता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है (तात्पर्य यह है, कि-सब लोगोंको 'मैं' इस प्रकार जो आत्मा भासमान वा प्रत्यक्ष होता है तथा जो कर्त्ता भोक्ता और संसारी है, उसमें ही लौकिक व्यवहार वाले आत्मा पदका प्रयोग करते हैं, जैसे लौकिक शब्द हैं, वैसे ही वैदिक शब्द हैं, वैसा ही उनका अर्थ है, इस लिये उपनिषद्के आत्मा शब्दका प्रयोग भी इस ही अर्थमें होना चाहिये, दूसरे अर्थमें नहीं होना चाहिये) [न] ऐसा कहना ठीक नहीं है [तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्] क्योंकि-वह उसका साक्षी है, इस लिये इस शङ्काका प्रत्युत्तर होजाता है (तात्पर्य यह है, कि-जिसका उपनिषदोंमें वर्णन है वह पुरुष अहं प्रत्ययका गोचर नहीं है, किन्तु अहं प्रत्ययके गोचर जीवात्माका साक्षी है "अनेन

जीवेनात्मना–इस जीव आत्माके द्वारा” इस प्रकार जीव और परमात्माका पारमार्थिक एकत्व है, तो भी उसका उपहित अविद्यासे हुआ रूप जीव है और शुद्धरूप उसका साक्षी है और वह उपनिषत्से ही जाना जाता है, अन्य प्रमाणसे गम्य नहीं है। आत्मा अहङ्कार आदिका साक्षी है, अहंधी–'मैं इस प्रत्ययका विषय नहीं है, इस लिये लोकसिद्ध–लौकिक–लोगोंका जाना हुआ नहीं है, जिसको शास्त्रकार भी नहीं जानते उसके अलौकिक होनेमें सन्देह ही क्या है ? [नहि···सर्वस्यात्मा] वास्तवमें 'मैं' इस प्रत्ययके विषयका जो कर्त्ता उससे भिन्न, उसका साक्षी, सकल भूतोंमें रहने वाला (सब भूतोंका नाश होने पर भी रहने वाला), सम (निर्विशेष), एक (अन्यचैतन्यशून्य), कूटस्थनित्य (नित्य-निर्विकार) और सबके आत्मा पुरुषको विधिकाण्डमें वा तर्क-शास्त्रमें किसीने नहीं पाया है [अतः···नेतुम्] इस लिये कोई उसका निराकरण नहीं कर सकता–नहीं है, ऐसा कह कर उसको उड़ा नहीं सकता और उसको विधिका शेष-अङ्ग भी सिद्ध नहीं कर सकता [आत्म···देयः] क्योंकि–वह आत्मा है (आत्मा अन्यशेष–अन्यके लिये नहीं होता, किन्तु दूसरा सब आत्माके लिये है, श्रुति भी कहती है–"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति–सबके प्रेमके कारण सब प्रिय नहीं होता है, किन्तु आत्माके प्रेमके कारण सब प्रिय होता है) और (सबका) आत्मा है, इस लिये ही सबका न हेय है न उपादेय है (संसारके सब पदार्थोंका ब्रह्म ही आत्मा है,

तत्त्व है, स्वभाव है, स्वभावको कौन त्याग सकता है ? तथा वह तो ग्रहण किया हुआ ही है, फिर उसको ग्रहण क्या किया जायगा ? इस लिये वह न हेय है न उपादेय है, इस लियेहेय उपादेयके विषय जो विधि निषेध हैं वे अपनेसे विपरीत आत्मतत्त्वको विषय नहीं कर सकेंगे) [सर्वं··· विनश्यति] वास्तवमें आत्मासे भिन्न जो कुछ भी है सब विकार है (सब परिणामी है) पुरुष पर्यन्त वह सब विनष्ट हो जाता है [पुरुषो···उपपद्यते] परन्तु विनाशका कारण न होनेसे पुरुष (आत्मा) अविनाशी है और विकारका हेतु न होनेसे वह कूटस्थ (निर्विकार) नित्य है । इस लिये ही वह स्वभावसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध और मुक्त है । इस ही कारणसे "पुरुषसे पर कुछ नहीं है-पुरुषसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है, पुरुष ही सबकी सीमा है, और पुरुष ही परम गति है" ऐसा कह कर और भी कहा है, (याज्ञवल्क्यने कहा, कि-हे शाकल्य ! "जो उपनिषदोंमें ही जाना जाता है-अन्य प्रमाण से नहीं जाना जाता) ऐसे पुरुष (आत्मा) को मैं तुझसे बूझता हूँ" यहाँ जो पुरुषको "औपनिषद्-उपनिषद्से ज्ञेय" यह विशेषण दिया है, इससे सिद्ध होता है, कि-प्रधान रूपसे आत्मस्वरूपका ज्ञान उपनिषदोंमें ही है । [अतो···मात्रम्] इस लिये भूत-सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करने वाला वेदका (कोई) भाग नहीं है, यह कहना साहसमात्र है (वास्तवमें उनका ऐसा कहना हठधर्मी है) ।

(भाष्य)-यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्-"दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्" (जै० सूत्र १ । १ । १

शबरभाष्य) इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । अपि च "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः । नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति । अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात् । क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्, नैव दोषः । क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिवर्त्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव । क्रियार्थत्वन्तु प्रयोजनं तस्य । न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति । यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति । उच्यते— अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति । तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन । अपि च "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते, न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम् । अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं स्यात्, तच्चानिष्टम् ।

(अनुवाद)–[यदपि ··· द्रष्टव्यम्] शास्त्रके तात्पर्यको जानने वालों (शबर स्वामी आदि पण्डितों) का जो कथन है, कि–"कर्मका बोध कराना ही वेदका अर्थ देखा गया है" इत्यादि कह कर जो आपत्ति उठायी है वह निरर्थक है, क्यों कि–यह वात धर्मविचारके प्रसङ्ग की है, इस लिये इसको

विधिनिषेधके अभिप्राय रूपसे देखना चाहिये (वेदान्तके साथ इस बातका कुछ संबन्ध नहीं है) [अपि च···प्रसङ्गः] और एक बातभी हैं "वेद क्रियार्थक है इस लिये जो वाक्य क्रियार्थक नहीं हैं वे निरर्थक हैं" इस प्रमाणके आधार पर अक्रियार्थक ब्रह्म आदि शब्दोंको निरर्थक मानने वालोंके मतमें सिद्ध पदार्थोंका उपदेश करने वाले वचनोंके निरर्थक होनेका अवसर आजायगा (तात्पर्य यह है, कि—कर्मकाण्डमें ही "सोमेन यजेत-सोमसे यज्ञ करे" "दध्ना जुहोति—दहीसे होम करता है" यहाँ के सोम दधि आदि शब्द भी निरर्थक हो जायँगे) [प्रवृत्ति···भवति] वेदका कर्मकाण्ड भाग यदि प्रवृत्ति निवृत्तिसे (क्रियासे) भिन्न (दधि सोम आदि) सिद्ध वस्तुओंका क्रियाके अङ्गरूपसे उपदेश करता है, परन्तु वेदका ज्ञानकांड (उपनिषद्भाग-सत्यम् इस शब्दके द्वारा) कूटस्थ नित्य ब्रह्मका उपदेश नहीं करता इसका क्या कारण है ? (यदि कहो, कि-सोम दधि आदि कार्यान्वयी होनेसे कार्य हैं, कूटस्थ तो कार्य नहीं है, ऐसा कहो तो इसका उत्तर यह है, कि–) भूत सिद्ध वस्तु उपदिश्यमान होनेसे क्रिया नहीं होजाती है (अर्थात् यदि दधि आदि कार्य हैं तो कार्य से अभिन्न होनेके कारण कार्यशेष नहीं होसकते, इस लिये दधि आदि सिद्ध पदोंका अर्थ क्रियासे भिन्न ही होता है) [अक्रिया···सादिति] यदि कहो, कि–सिद्ध वस्तु क्रिया नहीं है तो भी क्रियाका साधन होनेसे उसका उपदेश क्रियार्थक ही है, इस लिये उसका उपदेश करनेमें कोई हानि नहीं है। उपदेश क्रियार्थक है तो भी क्रिया उत्पन्न करनेकी शक्ति

वाली ही वस्तु उपदिष्ट है (तात्पर्य यह है, कि—क्रियार्थ और अक्रियार्थ शब्दका यह अर्थ है, कि-जिसमें क्रियाको उत्पन्न करनेकी शक्ति है वह क्रियार्थ है और जिसमें क्रिया को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है वह अक्रियार्थ है। दधि आदि पदार्थ क्रियाको उत्पन्न करते हैं, इस लिये वे क्रिया न होने पर भी क्रियार्थ हैं और क्रियार्थ होनेसे ही उनका उपदेश है परन्तु ब्रह्म क्रियानिष्पादक वस्तु नहीं है, इस लिये वह अक्रियार्थ है, अक्रियार्थ होनेसे वह उपदेशके योग्य नहीं है) क्रियार्थत्व तो उसका प्रयोजन है और इससे कोई वस्तु अनुपदिष्ट नहीं होती (अर्थात् फलजनक क्रियाको सिद्ध करनेके प्रयोजनसे ही दधि आदि सिद्ध पदार्थोंके उपदेशकी आवश्यकता है, इस प्रकार उपदिष्ट होने पर सिद्ध-वस्तु अनुपदिष्ट वा अनर्थक नहीं होती है) यदि वास्तवमें वस्तु उपदिष्ट ही है तो उससे तुम्हारा क्या होता है ? (अर्थात् यदि उसका कोई फलोद्देश नहीं है तो न सही उसके उपदेशमें तुम्हारा क्या है ?) [उच्यते] बताते हैं, सुनो [अनव··· देशेन] न जानी हुई आत्मवस्तुका उपदेश भी तैसा ही (कर्मकाण्डके दधि आदिके उपदेशकी समान) होसकता है (सार्थक है, कर्मकाण्डके दधि आदि सिद्ध वस्तुका उपदेश क्रियाकी सहायतासे सफल होता है) परन्तु वेदान्तमें अनवगत ब्रह्मवस्तुका उपदेश अपने आप ही सफल है, क्योंकि—उसके परिपूर्णज्ञानसे संसाररूप अनर्थका मूलकारण जो मिथ्याज्ञान (अज्ञान) उसकी निवृत्ति होती है और इससे ही उपदेशका प्रयोजन सिद्ध होजाता है। इस लिये कर्म-

काण्डमेंके क्रियासाधक वस्तुके उपदेशकी समान ही ज्ञानकाण्डमें किये हुए ब्रह्मात्मवस्तुके उपदेशकी सार्थकता है। [अपि च···तच्चानिष्टम्] एक बात और भी है, (कर्मकाण्डमें) "ब्राह्मणका वध न करे" ऐसे २ वाक्योंमें निवृत्तिका (ऐसे कामसे बचनेका) उपदेश किया है, (यह निवृत्ति वा निषेध अभावरूप होनेसे) न क्रिया है और न क्रियाका साधन है। यदि अक्रियार्थ (क्रिया वा क्रिया साधनसे अन्य) वाक्योंका उपदेश निरर्थक होगा, तो "ब्राह्मणका वध न करे" इत्यादि निषेधके उपदेशोंकी निरर्थकता होजायगी, और ऐसे वाक्योंका निरर्थक होना इष्ट (स्वीकृत) नहीं होसकता।

(भाष्य)-न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं, हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादौ प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्। यदप्युक्तं-कर्त्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' त्यादिवदिति, तत्परिहृतम्। रज्जुरियं नायं सर्प इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्।

(अनुवाद)-[न च…शाम्यति] निवृत्तिका अर्थ है- उदासीनता वा अभाव, इस लिये 'ब्राह्मणका वध न करे' यहाँ निषेधवाचक नकारका अन्वय होनेसे 'हननक्रियाकी उदासीनता वा हननक्रियाका अभाव' यही अर्थ निकलता है और किसी अर्थकी कल्पना नहीं होसकती। जीवकी स्वाभाविक हननकी इच्छाको लक्ष्य करके उस नकारके बलसे 'हननकी निवृत्तिका सङ्कल्प करे, ऐसा अर्थ करो तो कर सकते हो, परन्तु यहाँ यह अर्थ सङ्गत नहीं होगा (क्योंकि-निषेधका उपदेश भी यदि क्रियार्थक ही होगया, तो विधि और निषेध यह द्विविधता नहीं रहेगी, इस लिये मानना होगा, कि-निषेध क्रियार्थक नहीं है) क्योंकि-नकारका यह स्वभाव ही है, कि-यह प्रायः अपने संबन्धीके अभाव का बोधन करता है और अभावका ज्ञान ही उसके विषय की उदासीनताका कारण है। अभावबुद्धि चिरस्थायी नहीं है तो भी जैसे अग्नि काठको जलाकर-अपनी शक्ति फैला कर शान्त होजाती है, ऐसे ही अभावबुद्धि भी भ्रान्तिमूलक हननके अनुरागको नष्ट करके अन्तमें आप भी नष्ट होजाती है [तस्मात्…दिभ्यः] इस लिये हम तो ऐसा मानते हैं, कि-'ब्राह्मणका वध न करे' ऐसे स्थलोंमें नकारका अर्थ हननक्रियाकी निवृत्ति अर्थात् हननविषयक उदासीनता है। प्रजापतिव्रत आदि कइएक स्थलोंको छोड़ कर और सब ही स्थलोंमें नकारका अर्थ निषेध होता है (प्रजापति व्रत "तस्य वटोर्व्रतम्-जिस ब्राह्मणकुमारका व्रत है" वेदने इस व्रतको करनेका उपदेश देते समय कहा है, कि-"नेक्षेतो-

श्यन्तमादित्यम्-उदय होते हुए सूर्यको न देखे" यहाँ नकार का अभाव वा निषेध अर्थ नहीं घटता, इस लिये लक्षणके द्वारा नकारका ईक्षण-दर्शनके विरुद्ध सङ्कल्प, यह अर्थ लिया जाता है "अगाः, असुराः, अधर्मः" इत्यादि प्रयोगों में भी निषेध अर्थ सङ्गत नहीं होता है, इस लिये यथासंभव अन्य विरुद्ध आदि अर्थ लिया जाता है। तो "अक्रियार्थाना-मानर्थक्यम्-अक्रियार्थक वाक्य निरर्थक हैं" इस मीमांसा-सूत्रका क्या विषय है ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—) [तस्मात्...द्रष्टव्यम्] वेदान्त स्वार्थमें फलवान् हैं, इसलिये पुरुषार्थके अनुपयोगी उपाख्यान आदि और भूतार्थवाद (लोकप्रसिद्ध वस्तु आदिका वर्णन) को ही निरर्थक कहा है। यह (जैमिनिसूत्रका अभिप्राय) देखना चाहिये। [यद-प्युक्तं...दृष्टत्वात्] और एक बात कही थी, कि—कर्त्तव्य-विधिके साथ संबन्धके बिना कही जाती हुई वस्तु मात्र "सप्त-द्वीपा वसुमती-सात द्वीपोंवाली पृथिवी" इत्यादिकी समान निष्फल है, इस बातका भी परिहार (शङ्काका समाधान) होगया, क्योंकि-यह रज्जु है, सर्प नहीं है, इस प्रकार वस्तु मात्रके कथनमें भी प्रयोजन देखनेमें आता है।

(भाष्य)-ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्व-दर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्। अत्रो-च्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम् वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरो-धात्। नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादि-मत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे

तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छा०८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेन्न, सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न, शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न, धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। नत्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्।

(अनुवाद)—[नतु ··· मित्युक्तम्] परन्तु बार २ ब्रह्मका

श्रवण करने वाले पुरुषको भी पहिलेकी समान ही संसारी-पन देखते हैं, इस लिये रज्जुके स्वरूपके उपदेशकी समान ब्रह्मका उपदेश अर्थवान् नहीं होसकता, यह बात हम पहिले ही कह चुके है [अत्रोच्यते] इस बातका भी उत्तर देते हैं [नावगत···सुखं भवति] जिसको ब्रह्मात्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है उस पुरुषका पहिलेकी समान संसारीपना कोई नहीं दिखा सकता, क्योंकि-वेदके प्रमाणसे उत्पन्न होने वाला ब्रह्मात्मज्ञान ("ब्रह्माहम्-मैं ब्रह्म हूँ" यह साक्षात्कार) मिथ्याज्ञानजनित संसारीपनका विरोधी है (अर्थात् जहाँ ब्रह्मसाक्षात्कार होगा तहाँ संसारीपन रह ही नहीं सकता) शरीर आदिमें "मैं हूँ, मेरा है" ऐसा अभिमान रखने वाले में दुःख भय आदि देखनेमें आते हैं और जब उसको ही वेदके प्रमाणसे ब्रह्मात्मभावका ज्ञान होजाता है तथा वह देहाभिमान दूर होजाता है उस समय मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न होने वाले दुःख भय आदि उस पुरुषमें हैं, इसकी कल्पना नहीं की जासकती (इस कारण उस समय वह असंसारी ही होता है, संसारी नहीं होता) वास्तवमें धनका अभिमान रखने वाले (यह धन मेरा है ऐसा समझने वाले) धनवान् गृहस्थमें धन छिन जानेसे होने वाला दुःख देखनेमें आता है और जब वह ही संसारको छोड़ कर संन्यासी होजाता है और धनके अभिमानको त्याग देता है उस समय उसमें धनके वियोगसे होने वाला वही दुःख नहीं होता है। तथा कुण्डल पहरने वालेमें मैंने कुण्डल पहरे हैं ऐसे अभिमानके कारण होने वाला सुख देखनेमें आता है,

परन्तु वही पुरुष जब कुण्डलोंके सहित कुण्डल धारण करने के अभिमानको त्याग देता है उस समय उसमें वही कुण्डल धारण करनेके कारणसे होने वाला सुख नहीं होता है [तदुक्तं…इति] श्रुतिने भी यही बात कही है, कि-“शरीर रहित (शरीराभिमानशून्य) हुए आत्माको निःसन्देह प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं। [शरीरे…कल्पयितुम्] यदि कहो, कि—शरीरपात होने पर ही अशरीरी होगा, जीवितको अशरीरी नहीं कहा जा सकता, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—शरीरीदशा मिथ्याज्ञानसे होती है (अर्थात् आत्माका देहसंबन्ध पारमार्थिक नहीं है, भ्रान्तिके कारणसे है, इस मिथ्याज्ञानका तत्त्वज्ञानसे नाश हुआ, कि-अशरीर है, इस लिये वह जीवित दशामें वा शरीरके रहते हुए ही अशरीर होसकता है) मैं शरीर हूँ, ऐसे अभिमान वाले आत्माके मिथ्याज्ञानको छोड़ कर और किसीसे भी सशरीर दशाकी कल्पना नहीं की जासकती (तात्पर्य यह है, कि-शरीरमें अहंबुद्धिका नाम सशरीर है, इस लिये जब तक अहं अभिमान है तब तक ही सशरीर है, ऐसी सशरीरता स्थूल शरीरका पात होजाने पर भी लिङ्गशरीरके आश्रयसे रहती है, जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक लिङ्ग शरीरका नाश नहीं होता और तब तक अशरीर भी नहीं होसकता, ब्रह्मात्मज्ञान होने पर मिथ्याज्ञानमूलक लिङ्गशरीर नहीं रहता है, इस कारण अशरीर होजाता है, इस लिये तत्त्वज्ञानके सिवाय और किसी उपायसे अशरीरभाव नहीं होता है) [नित्य…वोचाम] अशरीर दशा नित्य है, क्योंकि-

वह कर्म (धर्म अधर्म) से उत्पन्न नहीं होती है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं (अशरीरत्व ही आत्माका स्वरूप है और यह नित्य है, सशरीरत्व अभिमानमूलक काल्पनिक है) [तत्कृत'''नुपपत्तेः] यदि कहो, कि—आत्माके किये हुए धर्म अधर्मके कारणसे ही आत्माका सशरीरपना हुआ है, (अर्थात् देह और आत्माका संबन्ध सत्य है । धर्म और अधर्मके नाशके लिये शरीरकी आवश्यकता है, आत्माको शरीरका संबन्ध होने पर धर्म अधर्मकी उत्पत्ति होती है और इस उत्पत्तिके होने पर संबन्ध पैदा होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषसे एकके असिद्ध होनेसे दूसरा असिद्ध होता है, अतः शरीरका संबन्ध दूर हो ही नहीं सकता, वह तो नित्य है ?) तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—आत्माके साथ शरीरका किसी प्रकारका भी वास्तविक संबन्ध होना असिद्ध है, इस लिये धर्म अधर्म आत्माके किये हुए हैं, यह भी असिद्ध है (अर्थात् आत्माके साथ शरीरका संबन्ध होना और धर्म अधर्मके प्रति आत्माका कर्तृत्व होना किसी प्रमाणसे भी सिद्ध नहीं है) क्योंकि—शरीरसम्बन्ध तथा धर्म और अधर्मकी उससे उत्पत्ति सिद्ध करनेमें अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग आजायगा (अर्थात् शरीरके विना धर्म अधर्म नहीं होते और धर्म अधर्मके विना शरीर नहीं होता, इस प्रकार अन्योन्याश्रय होगा, यह अन्योन्याश्रय सत्य सिद्धांतको पानेमें विशेष रुकावट डालता है यदि कहो, कि—जिस बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है वह बीज अपने उत्पन्न किये हुए अंकुरके सिवाय दूसरे अंकुरसे उत्पन्न हुआ है और वा

अंकुर जिस बीजसे उत्पन्न हुआ है उससे दूसरे बीजको जन्म देता है, इस प्रकार ही जिस शरीरसे जो धर्म उत्पन्न होता है वह शरीर अपने उत्पन्न किये हुएसे अन्य धर्म और अधर्मसें उत्पन्न हुआ तथा अपना उत्पन्न किया हुआ धर्म अधर्म अपनेसे दूसरे ही शरीरको जन्म देता है इस प्रकार बीजांकुर प्रवाहकी समान अनादि होनेसे अन्योन्याश्रय दोष नहीं है-धर्म और अधर्मको इस देहके सम्बन्धका कारण माननेमें भले ही अन्योन्याश्रय दोष रहे, तो इस पर कहते हैं, कि—) यह अन्योन्याश्रय और अनादित्वकी कल्पना अन्धपरम्परा है (अर्थात् ऐसी कल्पनाको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, जैसे बीजमेंसे अङ्कुर और अङ्कुरमेंसे दूसरा बीज उत्पन्न होता है और उसको हम प्रत्यक्ष देखते हैं, तैसे आत्माका पूर्वकर्मसे हुआ देह सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं है तथा इस विषयमें कोई शास्त्रका प्रमाण भी नहीं है, प्रत्युत श्रुति तो इसके विरुद्ध ही कहती है, कि-"असङ्गो हि-आत्मा निःसन्देह असङ्ग है" इस पर ही युक्ति कहते हैं) और आत्मामें क्रियाके समवायका अभाव है (कूटस्थ आत्मा कुछ भी नहीं करता है-उसमें क्रिया है ही नहीं) इस लिये उसका कर्त्ता होना अयुक्त है। [सन्निधान···हेतुः] यदि कहो, कि—आत्मा कुछ नहीं करता है तो न करे अन्य कारककी समीपता होनेसे ही श्रुतिमें उसके कर्त्ता होनेका उपचार किया है,जैसे कि-राजा अकर्त्ता होने पर भी समीपता-मात्रसे कर्त्ता होजाता है, ऐसे ही आत्मा अकर्त्ता होने पर भी कर्त्ता है ? तो यह नहीं कहसकते, क्योंकि-धनदान

आदिसे किया हुआ राजा और सेवकका सम्बन्ध होता है, इस लिये सेवकके किये हुए काममें राजाका कर्तृत्व उपचरित होसकता है, परन्तु इस दृष्टान्तसे धनदान आदिकी समान शरीर आदिके किये हुए कार्यमें आत्माके स्वस्वामिभावके संबन्धकी कल्पना किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती (शरीरके साथ आत्माका सेवक स्वामीकेसा संबन्ध हो ही नहीं सकता) शरीर आदिके साथ आत्माका संबन्ध तो मिथ्याभिमानमूलक है, यह प्रत्यक्ष है (अर्थात्–अविद्या भूमिपर जो बीज अङ्कुरकी समान देह तथा कर्म हैं, उसका आत्माके साथ संबन्ध भ्रान्तिसे होरहा है)। [एतेन··· व्याख्यातम्] इससे आत्माके याजकत्वका व्याख्यान हो गया (तात्पर्य यह है, कि–"यजेत-यज्ञ करे" इसमें यदि आत्माको कर्त्ता नहीं मानोगे तो विधि निरर्थक होजायगी ? इस पर कहते हैं, कि–आत्माको ब्रह्मज्ञान न होने तक भ्रमवश देहादिका संबन्ध होरहा है, इस लिये जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता है तब तक ही यज्ञ आदिका कर्तृत्व आत्मा में है और तब तक ही विधिवाक्योंका अवकाश वा सार्थकता है तथा जीवको यह अनुभव होता है, कि—मैं याग आदिका कर्त्ता हूँ)।

(भाष्य)–अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ् मुख्योऽन्यः

प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ तद्वत् देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्। आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः "तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव" (बृ० ४।४।७) इति। "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव" इति च। स्मृतिरपि च–"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" (भ० गीता २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्।

(अनुवाद)–[अत्राहुः] इस विषयमें (प्रभाकर मत वाले) कहते हैं, कि-[देहादि...गौणौ] आत्मा देह आदि से भिन्न है और उसका अपने देह आदिमें जो अभिमान है (मैं मेरा ऐसा ज्ञान है) वह गौण है, मिथ्या नहीं है। गुण-निमित्तक है, भ्रान्तिमूलक नहीं है। एक ज्ञात वस्तुका गुण दूसरी ज्ञात वस्तुमें दीखने पर उसके अनुसार उस वस्तुमें जो तिस वस्तुका ज्ञान और नाम कल्पित होता है वह ज्ञान और नाम गौण होता है अर्थात् गुणके निमित्तसे होता है) यदि ऐसा कहो तो, यह ठीक नहीं है, क्योंकि—प्रसिद्ध वस्तुभेदको गौणत्व और मुख्यत्व प्रसिद्ध है (अर्थात् नियम यह है, कि—दो प्रसिद्ध वा ज्ञात पदार्थोंमें गौण मुख्यभाव होगा, यदि दोनोंमेंसे एक अज्ञात हुआ तो तहाँ भ्रान्ति ही सिद्ध होगी) जैसे केसर (गरदनके बाल) आदि वाली एक विशेष आकृति अन्वय और व्यतिरेकसे सिंह शब्द और अर्थकी भागी होती है, वह मुख्य एक प्रसिद्ध है और क्रूरता शूरता आदि प्रायः रहने वाले सिंहके गुणोंसे युक्त दूसरा पुरुष भी प्रसिद्ध है, इस प्रकार जिसका वस्तुभेदप्रसिद्ध है उस उरुषमें (पुरुषसिंह शब्दका प्रयोग होने पर) सिंह शब्द और अर्थ गौण होगा, परन्तु जिनका वस्तुभेद प्रसिद्ध नहीं है वहाँ गौण नहीं होगा। तहाँ अन्यमें अन्य शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) भ्रान्तिमूलक ही होंगे, गौण नहीं होसकते। [यथा...भवतः] जैसे, कि–मन्द अन्धकारमें 'यह स्थाणु है' ऐसा विशेष स्वरूप मालूम न होने पर उस स्थाणु (शाखापत्रादि शून्य वृक्ष) में 'यह पुरुष है' ऐसे शब्दका

प्रयोग और पुरुषकी प्रतीति (जो होते हैं वे गौण नहीं होते किन्तु भ्रान्तिके कारणसे मिथ्या होते हैं) अथवा जैसे सीपी में अकस्मात् 'यह चाँदी है' ऐसा शब्द और विचार निश्चित होजाते हैं (वे गौण नहीं होते किन्तु भ्रान्तिके कारणसे मिथ्या होते हैं) ऐसे ही देहादि संघातमें अहंज्ञान और अहंशब्दका उपचार होता है, आत्मा और अनात्माके विवेक से शून्य पुरुषके, ऐसे अविवेकसे उत्पन्न हुए अहंज्ञान और अहंशब्दको तुम गौण कैसे कहसकते हो ? (नहीं कह सकते) । आत्मा और अनात्माके विवेकवाले पण्डितोंमें भी बकरी भेड़ें पालने वालोंकी समान अविविक्तज्ञान होता है और उसके अनुसार वे भी तैसे ही शब्दका प्रयोग किया करते हैं (अर्थात्–"अहम्–मैं" कहा करते हैं) [तस्मात्··· अशरीरत्वम्] इस लिये ही (कहना पड़ता है, कि–) जो देह आदिसे अलग आत्मा है, ऐसा कहते हैं उनका जो देह आदिमें "अहम्–मैं" ऐसा प्रत्यय (विचार) होता है वह मिथ्या ही है, गौण नहीं है । इस लिये मिथ्या विचारके कारणसे होनेवाला सशरीरपना धारण करने वाले विद्वान् (जीवन्मुक्त) को जीवित दशामें भी अशरीरभाव सिद्ध है (उसमें शरीरपातकी अपेक्षा नहीं है)[तथा च···इति च] ऐसा ही ब्रह्मज्ञानीके विषयमें श्रुति भी कहती है-"जैसे साँपकी कैंचुली वल्मीक (बमई) आदि स्थानोंमें त्यागी हुई मरी पड़ी रहती है (सर्प उसके अभिमानको त्याग देता है) ऐसे ही जीवन्मुक्त विद्वान्ने जिसमें अभिमानको त्याग दिया है ऐसा यह शरीर रहता है (ज्ञानी उसमें ममता नहीं रखता)

तदनन्तर वह (जीवन्मुक्त) अशरीर है, अमृत है, अमाण है, ब्रह्म है और केवल तेजःस्वरुपसे रहता है" और उस समय वह "चक्षु होते हुए भी अचक्षु है (बाधित नेत्रकी अनुवृत्तिसे नेत्रसहितसा प्रतीत होता है वास्तवमें नेत्रसे उसका कुछ संबन्ध नहीं है), कर्ण होने हुए भी अकर्ण है, वाणी होते हुए भी अवाक् है, मन होते हुए भी अमना है और प्राण होते हुए भी अप्राणसा है"यह भी कहा है। [स्मृति··· दर्शयति] और स्मृति (गीता) भी "स्थित है प्रज्ञा जिस की ऐसे योगीकी क्या भाषा है" इत्यादि ग्रन्थसे स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको कहती हुई, विद्वान्का किसी भी प्रवृत्तिके साथ संबन्ध नहीं है, इस बातको दिखाती है। [तस्मात्···वद्यम्] इस लिये जिसने ब्रह्मात्मभावको जान लिया है उस विवेकी पुरुषको पहलेकी समान संसारीपना नहीं होता है और जिस को पहलेकी समान संसारीपना हो, समझ लो, कि–उसको ब्रह्मात्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ है, यह सिद्धान्त अनवद्य–निर्दोप है (तात्पर्य यह है, कि–ब्रह्मात्मज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है,इस लिये वेदान्त प्रमाण है यह बात सिद्ध होगई और हितका शासन करके कारण इसको शास्त्र कहना भी ठीक ही है)।

(भाष्य)–यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न। अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। नतु तदस्ति, मनननिदिध्या-

स्तनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात् । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतंत्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम् । एवं च सति "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे' त्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत । आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—"अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति," 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा" (जै० ४।१।१) इतिवत् । ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः–"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति । तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि । नह्यहेयानुपादेयाऽद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति । अपि चाहुः "गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् । सद्ब्रह्मात्माऽहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः । अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥ देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥" इति ४

(अनुवाद)–[यत्···सिद्धम्] और फिर यह बात जो कही थी, कि–(वेदान्तशास्त्रमें) श्रवणके अनन्तर मनन और निदिध्यासन देखनेमें आता है, इस यिये (वेदान्त विधिका शेष–अङ्ग है और उसका विधेय होनेसे) ब्रह्म

कार्यशेष-विधिका अङ्ग है, स्वरूपमें परिणाम नहीं पाता है (अर्थात्-आत्मस्वरूपके तत्त्वका प्रतिपादन करनेमें वेदान्त का तात्पर्य समाप्त नहीं होता) ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि-मनन और निदिध्यासन ब्रह्मकी अवगति साक्षात्कारके लिये हैं। जिसका साक्षात्कार होगया है ऐसे ब्रह्म का अन्यत्र (क्रियाप्रवाहमें) विनियोग होता (क्रियाके लिये ही वस्तु और वस्तुज्ञानका उपदेश होय तो तहाँ वस्तु और ज्ञान विधेय वा विधिशेष माना जाता है, इस लिये ज्ञात ब्रह्म यदि किसी क्रियामें विनियुक्त होता—क्रियाके साधनरूपसे उपदेश किया गया होता) तो वह विधिशेष वा विधिका अंग मानलिया जाता, परन्तु यहाँ तैसा नहीं है, क्योंकि-श्रवणकी समान मनन निदिध्यासन भी ब्रह्मज्ञान के ही लिये हैं (क्रियाके विषय नहीं हैं), इस लिये उपासनारूप विधिका विषय होकर ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक शास्त्र है प्रमाण जिसका ऐसा) नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र ही शास्त्रप्रमाणक है यह बात सिद्ध होगयी क्योंकि-उसमें ही वेदान्तवाक्योंका समन्वय होता है। (तात्पर्य यह है, कि-ब्रह्मज्ञानके लिये श्रवणकी समान मनन और निदिध्यासन को भी अवान्तर वाक्यभेदरूप माना है, इस लिये ब्रह्म विधिशेष नहीं है, क्योंकि-उद्देशके ज्ञानसे लभ्य होनेके कारण ब्रह्म प्रधान है। जो शास्त्र जिस प्रतीति विचारके उद्देशसे प्रवृत्त होता है उस शास्त्रमें वह प्रतीति विचार ही प्रधान होता है, सत्य आदि वाक्य ब्रह्मकी प्रतीतिके उद्देशसे प्रवृत्त हुआ है तो उसमें ब्रह्म प्रधान है। ऐसे ही श्रवण आदि

शास्त्र भी उस ब्रह्मकी प्रतीतिके उद्देशसे ही प्रवृत्त हुआ है, इस लिये उसमें ब्रह्म प्रधान है। यदि अवगत—साक्षात्कार किये हुए ब्रह्मका अन्यत्र विनियोग होय तो ब्रह्म उसमें गौण होय और वह प्रधान होजाय, परन्तु सब वेदान्तवाक्य ब्रह्म के ही उद्देशसे प्रवृत्त हुए हैं इस लिये उसमें ब्रह्म ही प्रधान है) [एवं च ··· जिज्ञासेति] ऐसा सिद्धान्त निश्चित होजाने पर "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" यह शास्त्रका आरम्भ उचित सिद्ध होता है (अर्थात् वेदान्त एक पृथक् शास्त्र है और उसका प्रतिपाद्य-विषय भी पृथक्-स्वतन्त्र ही है, इस लिये ही व्यासजीने इसको रचा है) ब्रह्म यदि उपासनाविधि-परक होता तो फिर व्यासजी "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रकार वेदान्तका अलग आरम्भ न करते, क्योंकि—जैमिनि मुनि "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस प्रकार विधि विषयका उपदेश कर ही चुके थे (यदि कहो, कि—जैमिनि मुनिने मानसधर्म का उपदेश नहीं किया था, उन्होंने केवल अनुष्ठानसाध्य बाहरी धर्म याग आदिका ही विचार किया था तो यह भी नहीं कहसकते, क्योंकि—) यदि आरम्भ ही करना था तो ("अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस क्रमसे ब्रह्म विचारकी प्रतिज्ञा न करके) "अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा—बाहरी साधनरूप धर्मविचारके अनन्तर, बाहरी धर्म शुद्धिके द्वारा मानसिक उपासनारूप धर्मका हेतु है, इस लिये परिशिष्ट मानस धर्म-को जाननेका विचार आरम्भ किया जाता है" ऐसी प्रतिज्ञा करते, जैसे, कि—(जैमिनि मुनिने) तीसरे अध्यायमें शेष और शेषी-अङ्ग और अङ्गीका श्रुति आदिसे निर्णय करनेके

अनन्तर शेषीमें शेषका प्रयोग सम्भव होनेसे चौथे अध्याय के आरम्भमें "अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा-क्रतुशेष क्या है और पुरुषशेष क्या है ? इसका विचार आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा की है। ब्रह्मविचार वा ब्रह्मात्मैक्यज्ञानकी जैमिनिके शास्त्रमें प्रतिज्ञा नहीं की है (अर्थात् जैमिनि मुनिने ब्रह्मविचारका आरम्भ नहीं किया है, इस लिये उस ब्रह्मात्मज्ञानके लिये "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रकार वेदान्तशास्त्रका आरम्भ करना ठीक ही है।) [तस्मात्...प्रमाणानि] इस लिये सब विधिनिषेध और प्रत्यक्ष आदि दूसरे सब प्रमाण "अहं ब्रह्मास्मि-मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान होने पर ही समाप्त होजाते हैं (जब तक "अहं ब्रह्मास्मि" यह ज्ञान नहीं होता तब तक ही सत्य वा प्रमाण-रूप रहते हैं, इस ज्ञानके होजाने पर कल्पित वा मिथ्यासे होजाते हैं) [नहि...महन्ति] जिसमें हेय या उपादेय नहीं है ऐसा अद्वैत आत्माका परिपूर्ण ज्ञान हो जाने पर विषय और प्रमातारहित प्रमाण होजाने चाहियें (अर्थात् उस समय प्रमाण, प्रमाणके विषय प्रमेय और प्रमाता ये कोई भी नहीं रह सकते, क्योंकि-भेदज्ञान लुप्त होजानेसे उसका विषय भी लुप्त होजाता है) [अपि चाहुः...निश्चयादिति] और ब्रह्मज्ञानी भी कहते हैं, कि-"मैं सत् (अबाधित) ब्रह्म, आत्मा (विषयान् आदत्ते इति आत्मा-विषयोंको ग्रहण करने वाला-सर्वसाक्षी हूँ, ऐसा बोध होजाने पर पुत्र देह आदिकी सत्ताका बाध होता है, यह सब मायामात्र है ऐसा निश्चय होता है, ऐसा निश्चय होजानेसे गौण आत्मा-

भिमान और मिथ्या आत्माभिमान जाते रहने पर (अर्थात् मैं पुत्र कलत्र वाला हूँ और इन दुःखसे बड़ा ही दुःखी हो रहा हूँ, इस प्रकार सुख दुःख गुणके अभिमानसे उत्पन्न हुआ गौण अभिमान और मैं मनुष्य हूँ, कर्त्ता हूँ, मूढ़ हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान जो सकल व्यवहारका हेतु है उसके जाते रहने पर) कार्य (विधि निषेधका व्यवहार) कैसे होय ? (अर्थात् कारणके न रहनेसे कार्य किसी प्रकार हो ही नहीं सकता) अन्वेषण करने योग्य परमात्माके विज्ञान से पहले आत्माका प्रमातापन है, अन्वेषण हुआ, कि–प्रमाता ही पाप दोष आदिसे वर्जित होजाता है (तात्पर्य यह है, शङ्का होती है, कि–"अहं ब्रह्म–मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान बाधित है, क्योंकि–'मैं' इस अर्थका प्रमाता ब्रह्म हो यह ठीक नहीं है ? इसका समाधान करते हैं, कि–अज्ञानसे विलसित जो अन्तःकरण उसके साथ एकता होनेसे प्रमाता होता है, इस लिये कुछ बाधा नहीं है, श्रुति कहती है, कि–"य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः सोऽन्वेष्टव्यः–जो आत्मा पापरहित तथा जरा–मृत्यु और शोकरहित है उसका अन्वेषण करना चाहिये" इस श्रुतिके प्रमाणसे ज्ञातव्य जो परमात्मा उसके विज्ञानसे पहले अज्ञान होनेके कारण अहंज्ञानापन्न आत्मा प्रमाता होता है, उसके स्वरूपका ज्ञान हुआ, कि–प्रमाता ही पाप राग द्वेष और मरणरहित परमात्मा होजाता है । यदि प्रमातापन कल्पित हुआ, तब तो उसके आश्रित प्रमाणका प्रामाण्य कैसे होगा ? तहाँ कहते हैं, कि–) जैसे देह आत्मा है, यह ज्ञान प्रमाणरूपसे कल्पित

है तैसे ही यह लौकिक प्रमाण आत्मनिश्चयपर्यन्त ही है (तात्पर्य यह है, कि–जैसे देहका आत्मारूपसे ज्ञान कल्पित अर्थात् भ्रम होने पर भी वह जैसे वैदिक व्यवहारका अङ्ग और प्रमाण मान लिया गया है, ऐसे ही लौकिक व्यवहार भी जब तक आत्मज्ञान नहीं होता है तब तक प्रमाणरूप मान लिया जाता है–अद्वैतज्ञानके आविर्भूत न होने तक लौकिक वैदिक प्रमाण और प्रमेय आदि व्यवहार सत्य सा मान लिया जाता है, परन्तु आत्मज्ञान होने पर यह सब मिथ्या है। मूलमें जो 'तु' पद दिया है, उसका यह तात्पर्य है, कि–व्यावहारिक समयमें बाध न होनेसे व्यावहारिक प्रामाण्य रहे, परन्तु वेदान्त तो त्रिकालमें अबाधित ज्ञान देता है, इस लिये तत्त्वज्ञान देने वाला प्रामाण्य है ॥ ४ ॥

इतिश्री शाङ्करभाष्योपेतब्रह्मसूत्रस्थायाः जिज्ञासाधिकरणजन्माद्यधिकरणशास्त्रयोनित्वाधिकरणसमन्वयाधिकरणरूपायाः चतुःसूत्र्याः ऋषिकुमार पण्डित रामस्वरूपशर्मविरचित तत्त्वबोधिनी भाषाटीका सम्पूर्णा

इति चतुःसूत्री समाप्ता.



